राष्ट्रीय
सहारा शब्दार्थ नयी दिल्ली सोमवार 26 जुलाई, 2004

प्रभुत्व और प्रतिरोध के आंतरिक द्वंद्व

निर्मला जैन

कला की दुनिया में शिव नारायण सिंह 'अनिवेद' ने अपनी पहचान चित्रकार–कवि के साथ ही, एक गंभीर संस्कृति–समीक्षक के रूप में कायम की है। वे अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा के लिये जितने सराहे गये है, उतने ही असामाजिक–वैचारिक प्रश्नों पर सार्थक हस्तक्षेप के लिये भी। अभी हाल में नेहरू मेमारियल म्यूजियम लाइब्रेरी से उनका एक मोनाग्राफ प्रकाशित हुआ। विषय है राज्य के वर्चस्व का विखंडनः प्रभुत्व और प्रतिरोध की द्वंद्वात्मकता (डी–कंस्ट्रक्टिंग द हेजेमानी आफ द स्टेट : डायलेक्टिक्स आफ डॉमिनेशन एंड रेजिस्टेंस)। अपने मूल रूप से यह शोध–निबंध है जिसकी रचना मेनचेस्टर विश्वविद्यालय के समाज विज्ञान विभाग की एक परियोजना के तहत की गयी है। संदर्भ में औपनिवेशिक बरक्स उत्तर–औपनिवेशिक भारत यानी पराधीन और स्वाधीन भारत।

लेखक ने भूमिका में कहा है कि 'यह आलेख वर्तमान को समझने के उद्देश्य से अतीत का, उत्खनन है। इस प्रक्रिया में रचनाकार के अनुसार 'अतीत पृष्ठभूमि में खिसक गया है और वर्तमान अधिक स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से उभर कर आया है।' इस पूरे विमर्श से लेखक ने साहित्य और अपनी सांस्कृतिक विरासत को ग्राम्शी के साथ–साथ गॉधी, फैनन, फूकों और फियरे के वैचारिक विवेक की सोहबत में देखा है। उनका निष्कर्ष है कि औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक भारतीय जीवन की समूची स्वर–रचना, संस्कृति और राजनैतिक, ज्ञान और शक्ति, विमर्श और नियंत्रण, प्रभुता और प्रतिरोध, दमन और मुक्ति के बीच बहुमुखी संघर्ष के रूप में उभरकर आयी है। इस अध्ययन की निजता या विशेषता लेखक के इस दावे में है कि वह 'प्रभुत्व' की खोज या व्याख्या किसी पूर्व चिंतित खाचे के भीतर रखकर नहीं करता बल्कि उनकी मुकम्मल समझ के लिये विवादों और संघर्ष के विविध बिन्दुओं पर नजर डालना जरूरी समझता है। भारत राज्य की राजनीतिक–अर्थव्यवस्था और भारतीय समाज के अद्वितीय इतिहास और परंपराओ ने सास्कृतिक दृष्टि से एक दूसरे का रूप–निर्माण किया है। लेखक ने इसी पारस्पारिकता में निहित सच्चाई का विखंडन ग्राम्शीय शब्दावली और अवधारणा की सहायता से करने का प्रयास किया है।

कुल मिलाकर लेखक ने उत्तर–औपनिवेशिक राज्य को, औपनिवेशिक अतीत और उत्तर औपनिवेशिक स्थिति के, पश्चिम और पूर्व के, पूंजी और समाज के बीच एक विराट सेतु के रूप में उभरते देखा है। उसके अनुसार 'हरेक देश अपनी परंपरा, संस्कृति और निजी इतिहास की पृष्ठभूमि के लिये दिये समान और सार्वभौमिक दिखायी पड़ने वाली बुर्जुआ पूँजीवादी सभ्यता की व्यवस्था और संरचना का इस रूप में अनुकूलन करने में संलग्न है कि उसकी अपनी अद्वितीयता और रचनात्मकता सुरक्षित रहे।' ऐसी स्थिति में भारतीय पूंजीवाद की अपनी विशिष्टता की पहचान उस ठोस वस्तुस्थिति के संदर्भ में ही की जानी चाहिए जिसमें उसका विकास हो रहा है। जाहिर है इसके लिये 'शक्ति स्रोतों के संबंधों, के साथ 'उत्पादन के संबंधों, और 'उत्पादन की परिस्थितियों' का विस्तृत विश्लेषण–आवश्यक हो जाता है।

इस निंबध में विचार–विश्लेषण के माध्यम से भारत में राज्य की वर्चस्व परियोजना की जटिलता उभकर सामने आती है। भूलना नहीं चाहिए कि लगभग पचास वर्षीय स्वतंत्र राज्य–संघटना की जड़े दो सौ वर्षो की औपनिवेशिक विरासत और प्राचीन मध्ययुगीन उपमहाद्विपीय साम्राज्यों की परंपरा के दाय में मौजूद है।

वर्चस्व और प्रतिरोध के इस विषद आख्यान की अपनी लय है, दरारें और विघटन है, अंतराल और अंतर्विरोध है, आकस्मिकताएं है असंगतियॉ और प्रतिरोध है। इन्हीं के बीच से शक्ति–संघर्ष की दास्तान की सचाई तो प्रकट होती ही है, साथ ही वर्चस्व की दमनकारी नीतियॉ और वर्चस्वविरोधी प्रतिरोध की गतिविधियॉ भी उजागर होती चलती है। महत्वपूर्ण यह है कि इस प्रक्रिया में, विरोध की स्थितियों में ऐतिहासिक और सामजिक–आर्थिक संदर्भ की अनदेखी नहीं की जा सकती। ग्राम्शीय विश्लेषण–पद्वति के प्रति लेखक के आकर्षण का तर्क यही है कि वह विशिष्टताओं, अनिश्चितताओं और जटिलताओं का विश्लेषण करते हुये 'राज्य के जीवन को निर्मित की ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखता है जो अस्थायी संतुलनों को पछाड़ती हुई निंरतर गतिशील रहती है।'

वह रूडोल्फ की इस टिप्पणी से सहमत है कि ईश्वर के बारे में हिंदू अवधारणाओं के समान ही भारत में राज्य की स्थिति एक ऐसी बहुरूपी जीव की तरह है जिसके एकाधिक रूप और चेहरे है उनमें से एक उस तीसरे अभिनेता की तरह है जिसका पैमाना और शक्ति वर्गीय राजनीति को हाशिये पर रखने में योगदान देते है–इससे भिन्न एक पूँजीवादी राज्य है जो मिश्रित अर्थ–व्यवस्था की सरहदों की रखवाली करता है–अतंतः एक समाजवादी राज्य है जिसका सरोकार है गरीबी और विशेषाधिकारों का उन्मूलन।'

राष्ट्र–राज्य के पश्चिमी रूप में अंतर्निहित अंतर्विरोध–पूर्वी सभ्यता में अब उभर कर समकालीन भारत के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में प्रतिबिंबित होते दिखायी पड़ रहे है। दरअसल भारत में राष्ट्र राज्य का आधुनिक रूप, मूलतः औपनिवेशिक शासन की वह सृष्टि है जिसकी रचना यहॉ की देशज सामजिक संरचना में मूलभूत बदलाव को अंजाम दिये बिना की गयी है।

1990 से भारत की राजनीति और अर्थनीति में आने वाली अस्थिरता और परिवर्तनों की मीमांसा इस निबंध की रचना की मुख्य प्रेरणाओं में से है। भूमंडलीकरण का दौर जिसमें 'शासक–वर्ग' के नाम पर तीन पार्टियों/संगठनों की सरकारें–कांग्रेस, यूनाइटेड फ्रंट और नेशनल डेमोक्रेटिक एलायंस। (इसका प्रकाशन पिछले चुनाव से पहले हुआ था) तीनों ने 'विदेश निवेश' को आकर्षित करने के उद्देश्य से 'आर्थिक सुधारों' और 'भूमंडलीकरण' के राष्ट्र सम्मत एजेंडा को 'सर्वसम्मति' से कार्यान्वित किया। ऐसे उदारवाद के बारे में ग्राम्शी की टिप्पणी है कि ऐसी स्थिति के साथ निबटने की प्रक्रिया में ''वास्ता शासक वर्ग के ऐसे हिस्से से पड़ता है जो राज्य की संरचना में नहीं केवल सरकारी नीति में संशोधन करना चाहता है, ऐसी नीति जो केवल वाणिज्य का नियमन करने वाले कानूनो में सुधार करना चाहती है। दांव पर सरकारी दफ्तर में शासक वर्ग की पार्टियों का परिक्रमण लगा होता है, एक नये राजनीतिक समाज की बुनियाद और व्यवस्था नही और इससे भी कम चिंता होती है एक नये ढंग के शिष्ट समाज की।'

लेखक ने सही कहा है कि शासन करने वाले इन तीनों प्रतिस्पर्द्धी शासक पार्टियों या संगठनों में से किसी के पास राज्य की संरचना में परिवर्तन करने का कोई कारगर एजेंडा नही था। प्रतिस्पर्द्धी शासक पार्टियों और मोर्चो के बीच दूसरे सामाजिक समुदायों पर शासक वर्ग के द्वारा वर्चस्व स्थापित करने का मूल मुद्दा इनके बीच तीव्र संघर्ष का कारण रहा। इस परिदृश्य में राज्य के वर्चस्व की स्थिति इसलिए नाजुक बनी रहती है क्योकि वोट बैंक की हैसियत वाले बहुसंख्यक सबालर्टन समुदाय किसी विशेष पार्टी या संगठन से अपना संबंध विच्छेद करके राजनीतिक अस्थिरता का माहौल पैदा करते रहते है। 1990 के दशक के दौरान 'हंग' संसदो का सिलसिला इन्हीं की निष्ठा के स्थानान्तरण का नतीजा है।

लेखक की धारणा है कि आंरभ के उत्तर–औपनिवेशिक, राज्य की वर्चस्वधर्मी विचारधाराएं थी 'विकास, समाजवाद प्रजातंत्र और धर्म निरपेक्षता। लेकिन आर्थिक नीतियों में भूमंडलीकरण और बाजारीकरण के पक्ष में नेहरू के समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता वाद के परित्याग के साथ ही, चुनावों के संदर्भ में जातीय और सांप्रदायिक समीकरणों ने, वर्चस्व की कमजोरियों का भंडाफोड कर दिया है।''

लेखक की दृष्टि उस द्वंद्वात्मकता पर केन्द्रित है, जिसकी गिरफ्त में भारतीय समाज–व्यवस्था उलझी है। यह द्वंद्व जो भूंमडलीकरण और स्थानीयकरण की ध्रुवीय मांगों से पैदा होता है। पूँजी पहले की अपेक्षा करती और समाज दूसरी की। यह द्वंद्व अभी भी सुलझा नहीं है।

इस निबंध का सबसे महत्वपूर्ण और ध्यान आकर्षित करने वाला अंश, तीसरा अध्याय है जिसमें औपनिवेशक वर्चस्व और उसकी दमनकारी नीतियों और पद्वतियों के विरूद्ध प्रतिरोध की द्वंद्वात्मकता की व्याख्या की गयी है। इस क्रम में लेखक ने 19वीं–20 वीं शताब्दी के किसान और जनजातीय विद्रोहों के साथ 1857 के सिपाही–विद्रोह जैसे प्रतिरोधात्मक प्रयासों के चरित्र की पड़ताल करते हुए, औपनिवेशक वर्चस्व की समस्या को इस तथ्य के रूप में रेखांकित किया है कि वे उस राजनीतिक समुदाय और भद्र समाज को जन्म देने में असफल हो गये, जिसे पैदा करने में राष्ट्रीय आंदोलन, सफल हुआ क्योंकि उसने साम्राज्य के दमन के विरूद्ध राजनीतिक रूप से सक्रिय बहुवर्गीय चेहरा दे दिया''।

देसी समाज के साथ यह औपनिवेशिक, मुठभेड़ अतीत में होने वाले हमलों से प्रकृति में भिन्न थी। इन हमलावरों ने अपनी विदेशीयता, जातीय भेदभाव और वैशिष्ट्य को बनाये रखा। परिणामस्वरूप औपनिवेशक, और औपनिवेशित, गोरे और

राष्ट्रीय
सहारा शब्दार्थ नयी दिल्ली सोमवार 26 जुलाई, 2004

काले, आधुनिक और परंपरावादी, पश्चिम और पूर्व के बीच द्विभाजन, यानी 'अन्य' के समूचे पूर्वदेशीय विमर्श का जन्म हुआ। भारत के विभिन्न सामाजिक वर्गो पर इसका प्रभाव एक सा नहीं था। जनसामान्य का रवैया आक्रामक और हिंसक था जो औपनिवेशिक व्यवस्था को इसलिये उखाड़ फेंकना चाहता था क्योंकि उसका सामुदायिक जीवन और सामाजिक व्यवस्था तबाह हो गयी थी। नौकरशाही में नीचे तबके की नौकरियां पा जाने के कारण शिक्षित मध्यवर्ग का रवैया औपनिवेशिक शासन के प्रति द्विधापूर्ण हो गया था जो कि प्रशासन के जाति भेद वाले रवैये के कारण शासन–तंत्र से अलग–थलग रखा जाता था। लगभग पॉच सौ छोटे–बड़े रजवाड़ों और नवेदित भूस्वामी वर्ग ने औपनिवेशिक शासन से अपना तालमेल बैठा लिया था।

लेखक ने इस व्यापक और जटिल परिदृश्य में, प्रतिरोध और संघर्ष की विभिन्न आवाजों और चेहरों की पड़ताल तो की ही है, राष्ट्रीय आंदोलन में ठेठ स्वदेशी तत्वों के योगदान और प्रासंगिकता पर बड़े विवेकपूर्ण ढंग से विचार किया है। इस प्रसंग में शायद ही कोई पक्ष अनदेखा रह गया हो उभरता भारतीय बुर्जुआ वर्ग, शिक्षित मध्यवर्ग, सरकार, साहूकार और जमींदार की तिगड़ी के शोषण से जूझते अलग–अलग समुदाय। सबका अपना योगदान । पर उन्नीसवीं सदी में स्वदेशी शासकों, सामंत सरदारों, किसानों और जनजातियों, के विद्रोह को लेखक ने प्रकृति से स्थानीय और पूर्व आधुनिक घोषित किया है। उनका कहना है कि इन्होने निशाना मुख्य रूप से शोषक विदेशी औपनिवेशिक शासन को जरूर बनाया किन्तु वे स्वयं न आधुनिक थे न राष्ट्रीय परंपरा और आधुनिकता के बीच संघर्ष मुख्यतः शिक्षित वर्ग का सरोकार था। ये देसी बुद्धिजीवीं राजनीतिक, आर्थिक क्षेत्रों में भौतिक दृष्टि से भले ही औपनिवेशिक शासन की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हों, पर इन्होनें सामाजिक सांस्कृतिक और बौद्धिक–नैतिक क्षेत्रों में अपनी श्रेष्ठता के स्रोत वेद–उपनिषद, रामायण–महाभारत जैसे ग्रंथो में खोज लिये थे। बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षो में इस संघर्ष का हल विवेकानन्द, टैगोर, तिलक, अरविंद, भारती, इकबाल और गॉधी जैसे चिंतकों की वाग्मिता से ही संभव हो सका। पर प्रतिरोध की देशज आवाज की पहली राजनीतिक अभिव्यक्ति बंग–विभाजन के विरोध में 1905–08 के बीच स्वदेशी–आंदोलन में ही हुई।

लेखक का कहना है कि स्वदेशी आंदोलन की खूबी इस बात में थी कि उसके बाद राष्ट्रीय आंदोलन ने आधुनिक विषयवस्तु के लिये देशज अभिव्यक्ति रूपों को ग्रहण कर लिया। आधुनिक मुहावरों का कुछ इस तरह भारतीयकरण किया गया कि वे किसानों और श्रमिकों तक पहुँचकर औपनिवेशिक वर्चस्व के विरूद्ध वर्चस्वधर्मी प्रतिरोध को गति देने में कारगर हो सके। हिंदुस्तान हमारा, वंदेमातरम् और भारत माता जैसे 'मेटाफर' 'जन–राष्ट्र' के विचार की ही अभिव्यक्ति थे। यही स्थिति स्वराज और रामराज्य के रूपक की थी। वैसे ही जैसे स्वदेशी का आग्रह और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार विदेशी पूंजी की घुसपैठ के विरोध और देशी उद्योगों की सुरक्षा की मांग की ही अभिव्यक्ति थी।

लेखक की नजर में महात्मा गॉधी का महत्व और योगदान इस बात में है कि उन्होनें 'देसी मुहावरे और वैचारिकता के एक नये विमर्श का विकास किया।' जब उन्होनें अहिंसा , सत्याग्रह और चरखे के आदर्श खड़े किये तो वे किसानों की भाषा का इस्तेमाल कर रहे थे। स्वदेशी, सत्याग्रह और स्वराज की देशी विचारधारा के बूते पर बीसवीं शताब्दी के स्वाधीनता आंदोलन के औपनिवेशिक विदेशी शासन के वर्चस्व को जो चुनौती दी, उसके बारे में लेखक का निर्णय है कि 'बींसवी शताब्दी के स्वाधीनता आंदोलन ने 'राष्ट्र–राज्य' की 'वापसी' के लिये एक शक्तिशाली वर्चस्वधर्मी देसी विचारधारा प्रस्तावित की।' उसके विश्लेषण के अनुसार 'इस दौर के किसान आंदोलन, कुल मिलाकर स्वाधीनता आंदोलन के नेतृत्व द्वारा प्रचारित राजनीतिक और विचारधारात्मक ढांचे के तहत ही घटित हुए।' अपनी स्थापनाओं को शिव नारायण सिंह ने बराबर तर्क और उदाहरणों से पुष्ट किया है और ग्राम्शीय टिप्पणियों से भी। जरूरी नहीं कि लेखकीय स्थापनाओं के साथ सबकी पूरी सहमति हो पर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह मोनाग्राफ औपनिवेशिक वर्चस्व के विरूद्ध, प्रतिरोध की उस लड़ाई की सार्थकता और प्रासंगिता पर सतर्क विमर्श के लिये आमंत्रित जरूर करता है जिसका मुहावरा, हथियार और सोच सब अपने चरित्र में उठे देसी थे, जिसकी 'शव–परीक्षा' करने या जिन्हें अप्रासंगिक करार करके खारिज करने का उत्साह रह–रह कर लोग दिखाते रहे है।

पुस्तक : डीकंस्ट्रक्टिंग द हेजेमनी ऑफ द स्टेट : डायलेक्टिक्स ऑफ डॉमिनेशन एंड रेजिस्टेंस
लेखक : शिव नारायण सिंह अनिवेद
प्रकाशक : नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एंड लाइब्रेरी नयी, दिल्ली
मूल्य : 50 रूपये

परख

विखंडित वर्चस्व के अंतर्विरोध

रामशरण जोशी

''.....सच्चा स्वराज्य चंद लोगों के द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से नहीं, बल्कि जब सत्ता का दुरूपयोग होता हो तब सब लोगों के द्वारा उसका प्रतिकार करने की क्षमता प्राप्त करके हासिल किया जा सकता है, दूसरे शब्दों में, स्वराज्य जनता में इस बात का ज्ञान पैदा करके प्राप्त किया जा सकता है कि सत्ता पर नियंत्रण और उसका नियमन करने की क्षमता उसमें है ....'' महात्मा गॉधी

(वरिष्ठ प्रशासक शिव नारायण सिंह एक अच्छे चित्रकार और रैडिकल चिंतक है, उन्होनें राज्य की वर्चस्वता को विभिन्न आयामों और उनके खिलाफ खड़ी होने वाली प्रतिरोधी शक्तियों को लेकर कुछ महत्वपूर्ण सवाल उठाए है, उन्होनें अपने संदर्भित मोनोग्राफ में राज्य की प्रभुसत्ता और जनता की प्रतिरोधी सत्ता के द्वंद्वों को पकड़ने की गंभीर कोशिश की है, क्या राज्य की वर्चस्वता, बुर्जुआ पूॅजीवादी सभ्यता के महाआख्यान के सार्वीकरण में निहित है? जनता के सामान्य जीवन में राज्य की वर्चस्ववादी उपस्थिति कितनी है और कहां तक स्वीकार्य है? संक्षेप में, लेखक ने वर्चस्वता की रहस्यमयता से पर्दा उठाने का प्रयास किया है, जाहिर है, इस काम में 'ग्राम्शी पद्धति' का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया गया है, वास्तव में यह वर्तमान समय का महत्वपूर्ण विमर्श है' वर्चस्वता और प्रतिरोध' के चरित्र की सही समझदारी, मोनाग्राफ में इसी विमर्श के लिये जमीन तैयार की गई है–संपादक)

भूमंडलीयकरण ने राज्य की परंपरागत जड़ों को बुरी तरह से झकझोर दिया है, पिछले कुछ सालों से यह सवाल शिद्दत के साथ उठाया जा रहा है कि क्या राज्य की परंपरागत संप्रभुता अक्षण्णु है? क्या राष्ट्रवाद 21वीं सदी में प्रासंगिक रहेगा ? क्या राज्य के प्रभुत्व के समानांतर वर्चस्व व प्रतिरोध के नए सत्ता केंन्द्र अस्तित्व में आ चुके है? 21वी सदीं की चुनौतियों के संदर्भ में क्या राज्य को, औपनिवेशिक, सत्ता की अवधारणाओं के चश्में से आंका जा सकता है? क्योंकि वैश्विक पूंजीवाद और हाई तकनोलॉजी ने 19वीं सदी के 'राष्ट्र–राज्य' सिद्धांत के लिये बहुआयामी संकट पैदा कर दिए है, और आज, 'मारकेट स्टेट' अर्थात् 'बाजार राज्य' अब 'मिथ' के बजाए 'यथार्थ' दिखाई देने लगा है, ऐसी स्थिति में हम यह सोचने के लिये विवश हो गए है कि राज्य की प्रभुता को किस रूप में लिया जाए? प्रभुता के वर्तमान चरित्र को समझने के लिये यह जरूर है कि विगत की प्रभुता की घाटियों पर भी दृष्टि डाली जाए, कलाकर्मी व राजनीतिक चिंतक शिव नारायण सिंह ने अपने मोनोग्राफ *डीकंस्ट्रक्टिंग की हेजीमनी ऑफ दी स्टेटः डयलेक्टिक्स ऑफ डाफमीनेशन एंड रेसिस्टेंस* में यह पद्धति से परिवर्तित परिदृश्य में राज्य, प्रभुता और जनता के संबंधों और उनके द्वंद्वों को समझने की कोशिश की है।

विचारक शिव नारायण की यह टिप्पणी वज़नदार प्रतीत होती है कि ''.... भूमंडलीकरण व अर्थव्यवस्था के बाजारीकरण और चुनावों के लिये जाति व संप्रदायिकता के आधार पर समाज के संघटनीकरण की खातिर नेहरूवादी समाजवाद व धर्मनिरपेक्षता के परित्याग ने प्रभुता (राज्य की) की भंगुरता को उघाड़कर रख दिया है, ''यह कई

प्रकार के दबावों की शिकार हो गई है, अब भारतीय राष्ट्र राज्य की प्रभुता को अभेय व अक्षुण्ण नही कहा जा सकता, क्योंकि स्वतंत्र भातरीय राज्य उन अंतर्विरोधी के समाधान में असफल रहा है जिनकी जड़े, मध्ययुग व औपनिवेशिक भारत में फैली हुई दिखाई देती है, यही वजह है कि 'इंडिया–भारत सिंड्रोम'' का प्रभाव महानगरों, नगरों और कस्बों व गॉवों में पसरा हुआ मिलता है, इस संदर्भ में लेखक का मत है कि पश्चिम के विपरीत भारत में राज्य ने अपनी प्रभुता के निर्माण के कार्यो को पहले से ही शासित सामाजिक समूहों को आधार बनाकर किया है, पश्चिम में ऐसा नहीं हुआ है, क्योंकि वहॉ के प्रभुत्व वर्गो में प्रायः एकरूपता है, वहॉ का 'नागरिक समाज' राज्य की रक्षा दुर्ग बनकर करता है, लेकिन भारत में नवोदित शहरी व ग्रामीण पूॅजीपति वर्गो ने राज्य के प्रभाव के लिये कई प्रकार की चुनौतियां पैदा कर दीं, यह सिलसिला छठे दशक से आरंभ हुआ, सातवें व आठवें दशकों में नक्सलबाड़ी आंदोलन ने राज्य की 'आपेक्षित स्वायत्ता' पर जबरदस्ती दबाव पैदा कर दिया, इसी तरह के कई और भी आंदोलन है जिनकी वजह से राज्य की एकछत्र प्रभुता को चुनौतियॉ मिलती हैं।

भारतीय समाज के साथ एक ऐतिहासिक विडंबना है कि राज्य की महत्वाकांक्षाओं और प्रजा की आंकाक्षाओं के बीच गहरी खाई रही है, क्योंकि जमीनी स्तर पर गुणात्मक बदलाव के विरूद्ध मध्यकालीन और ब्रिटिशकालीन दोनों ही राजसत्ताएं हमेशा आड़े आती रही है, स्वाधीन भारत के राज्य का मिजाज भी अपेक्षित रूप से परिवर्तनकामी नहीं रहा है, इसमें भी प्रजा को जनता में रूपांतरित करने में कई तरह की हिचकें दिखाई : एक, उत्पादन साधनों में बदलाव हुआ, लेकिन उत्पादन संबंध तकरीबन यथावत रहे, दो, आधुनिक राजनीतिक तंत्र लिया, लेकिन सामाजिक–सांस्कृतिक व आर्थिक व्यवहार सामंती व औपनिवेशिक ही रहे तीन जीवन शैली के पश्चिमीकरण को आधुनिकता के रूप में स्वीकृत किया गया, नतीजा यह निकला कि राज्य की प्रभुता और परंपरागत शासित वर्गो के बीच एक तरह से बेगानापन पसरा रहा, होना तो यह चाहिए था कि राज्य की प्रभुता जनता की ताकत बनती, और लोक–शक्ति राज्य–प्रभुता का आधार बनती, इसलिये लेखक के इस मत से मेरी सहमति है कि भारत में 'सामाजिक चेतना', 'वर्ग चेतना' में रूपांतरिक नहीं हो पाई क्योंकि वहॉ' 'आधुनिक नागरिक समाज' अस्तित्व में नहीं आ सका, भारत में आज भी पूर्व पूॅजीवादी सामाजिक संघटनो के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के संबंध बने हुए है, भारत के संबंध में फ्रांसीसी लेखक गाय सोर्मेन की यह टिप्पणी मार्के की है कि ''भारत में नई चीजे पुरानी चीजों की जगह नहीं लेती, बल्कि साथ–साथ रहने लगती है'' शिव नारायण का विश्लेषण इससे भिन्न नही हैं,

लेखक का यह निष्कर्ष भी ठीक है कि भारत में राष्ट्रीय चेतना का विस्तार हुआ और यह मजबूत भी हुई है, लेकिन इसकी तुलना में ''सामाजिक चेतना'' पिछड़ी रही है, आज भी इसमें विशेष अंतर नहीं आया है, हिदीं–पट्टी समाज तो इसकी ज्वलंत मिसाल है जहां 19वीं सदी के पूर्वाद्ध से लेकर 20वीं सदी के मध्य तक विभिन्न स्तरों पर व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन तो हुए है, लेकिन दक्षिण व पश्चिम भारत की तुलना में सामाजिक आंदोलनों का नितांत अभाव है, हिंदी समाज की इस चेतना–रूग्णता ने राज्य की प्रभुता को भी स्वस्थ नहीं रहने दिया है।

कभी–कभी मुझे लगता है कि कहीं आधुनिक भारत की राज्य सत्ता का चरित्र औपनिवेशिक राज्य सत्ता के चरित्र का विस्तार या स्वतंत्रता अर्जित संस्करण तो नही है? लेखक ने अपने मोनोग्राफ के शुरूआती अध्यायों में औपनिवेशिक शासन शैली और भारतीयों की प्रतिरोधी शक्ति का विश्लेषण किया, इस प्रक्रिया में सिंह ने प्रसिद्ध पुस्तक रेच्ड ऑफ दी अर्थ के लेखक, फ्रेंच, फ़ेनोन द्वारा किए गये औपनिवेशिक मानसिकता के

मनोविश्लेषण का सहारा लिया है फेनोन का मत है कि आततायी औपनिवेशिक, शासन को उखाड़ फेंकनें के लिये हिंसा का भी प्रयोग किया जाता है, फैनोन की पुस्तक की भूमिका में फ्रांसीसी दर्शनिक ज्यां पाल सार्त्र ने ही कहा है कि औपविशिक शासन में यदि विद्रोही किसान, हिंसा का प्रयोग करते हैं तो यही उनकी मानवता का प्रतीक है, अर्थात् यदि हिंसा अन्याय, असमानता, और गुणात्मक बदलाव के लिये प्रयोग में आती है तो इसमें मानवता की ही स्थापना होती है, अत' राज्य प्रभुत्व और जनता के अंतर्विरोधों का समाधान आवश्यक है।

लेकिन यहॉ यह गौरतलब है कि जब प्रभुत्व का इस्तेमाल प्रभुत्ववर्गीय हितों की रक्षा के लिये होता है तब अंतर्विरोध यथावत बने रहते है और समाज व राज्य के चरित्र में गुणात्मक परिवर्तन हाशिए पर ठिठुरा रहता है, औपनिवेशिक काल में भी यही हुआ, परंपरागत सामंती वर्ग, यानी पॉच सौ से अधिक राजे–रजवाड़े–नवाब, नवभूस्वामी वर्ग और नवोदित शिक्षित मध्यवर्ग जैसी शक्तियॉ विदेशी राज्य के प्रभुत्व की तलहटियों से चिपकी रहीं जबकि बहुसंख्यक भारतीय उत्पादक वर्गो (किसान, दस्तकार, श्रमिक आदि) के लिये राज्य लगभग विलुप्त रहा, हालांकि यह भी सही है कि औपनिवेशिक काल में अस्तित्व में आए नए प्रोफेशनल वर्गो ने तत्कालीन त्रिमूर्ति 'सरकार, साहुकार और जमींदार' के शोषणवादी गठबंधन को चुनौती भी दी, लेखक के विश्लेषणमें यह बात प्रमुखता से रेखांकित हुई है कि महात्मा गॉधी के नेतृत्व में राज्य के प्रभुत्व के विरूद्ध समानांतर एक प्रतिरोधी प्रभुत्व भी अस्तित्व में आया जिसने ठेठ देसी वाणी में प्रभुत्व के विमर्शको स्पेस दिया–अहिंसा, सत्याग्रह, चरखा, स्वराज व स्वदेशी, इसे ही 'जन प्रभुत्व' बोला जाता है जो कि राज्य प्रभुत्व की आंखों में आंखे डालकर देखने की दुस्साहसिकता से लैस रहता है।

इटली से चिंतक एंटोनिओं ग्राम्शी ने अंग्रेजों के खिलाफ भारतीयों के राजनीतिक संघर्ष को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है : एक, आंदोलन का युद्ध, दो, स्थिति का युद्ध और तीसरा, भूमिगत युद्ध ग्राम्शी मानते है कि गॉधी जी का सत्याग्रह एक प्रकार के स्थापना युद्ध था जोकि कभी आंदोलन का युद्ध और कभी भूमिगत युद्ध का रूप लेता है, ग्राम्शी के विश्लेषण का केन्द्रीय स्वर यह है कि तीनों प्रकार के युद्धों में लोक–हिस्सेदारी ने एक स्वतंत्र, स्वायत और समानांतर जन–प्रभुत्व को जन्म दिया, जोकि अंततोगत्वा ब्रिटिश राज्य की अधिकृत प्रभुत्वता के लिये 'अस्तित्व–संकट' बना, अतः लेखक के मत में राज्य की प्रभुता का आकार–प्रकार निर्णयात्मक नहीं, बल्कि परिस्थति सापेक्ष होता है, बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि राज्य और समाज के सत्ता संबंध कैसे हैं तथा राज्य–नियंताओं का व्यवहार और स्वरूप किस प्रकार के है।

उदाहरण के लिए, राज्य ने भूमंडलीकरण युग के सूत्रपात के साथ–साथ यह कहना शुरू कर दिया है कि अब उसकी भूमिका सिर्फ ''फैसीलिटेटर'' की हो गई है, वह समाज की विभिन्न प्रतिस्पर्धात्मक शक्तियो के लिये क्रीड़ा–मंच की सुविधा ही प्रदान कर सकता है, दूसरे शब्दों में, यदि रिंग में असमान पहलवानों के बीच कुश्ती होती है तो इसके परिणामों से उसका कोई सरोकार नहीं है, क्योंकि रिंग मे कूदने का फैसला पिद्दी और गामा पहलवानों ने लिया है, राज्य ने नहीं, अतः देश में फोर्ड को भी व्यापार की उतनी ही स्वतंत्रता मिलेगी जितनी कि बस्तर के किसी आदिवासी को लघु वन उपज की बिक्री के लिये होती है, यदि बाजारू ज़बान में कहा जाए तो राज्य की प्रभुता 'दल्ला' का रूप लेती जा रही है, वैश्विक पूंजी की तेजी से हावी होती प्रभुता के बहुआयामी दबावों के कारण राज्य की परंपरागत 'जन कल्याणकारी' भूमिका सिमटती जा रही है, यदि ऐसा नहीं होता तो राज्य को बार–बार इसकी घोषणा की आवश्यकता नहीं होती कि भारत में 20–25 करोड़ का शक्तिशाली मध्यवर्ग पैदा हो चुका है, राज्य को इसके हितों व जरूरतों की चिंता करनी पड़ रही है, यह स्वाधीन भारत के

परख

मध्यवर्गीय प्रभुत्व का ताज़ातरीन रूप है जिसने राज्य की प्रभुता पर निरंतर व निर्णायक दबाव बनाने शुरू कर दिए है, शायद शहरी व महानगरीय भारत में ये नए सत्ता समीकरणों का प्रभुत्व के रूपों को जन्म दें जोकि अतीत से गुणात्मक प्रभावों में भिन्न होगें।

यहॉ यह भी नही भूलना चाहिए कि राज्य की परंपरागत संप्रभुता का एकछत्रता की अभेद्यता भी हर दिन खंडित होती जा रही है, यह 20वीं सदी के अंतिम चरण का परिदृश्य है क्योंकि भारत जैसे तीसरी दुनिया के राज्यों की पॉलीटिकल इकोनोमी' अब दिल्ली में नहीं, न्यूयार्क व वाशिंगटन में तय होती है, विश्व बैंक व अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष अपने आर्थिक, सामरिक व राजनीतिक हितों को ध्यान में रखकर पिछड़े व विकासशील देशों की राजनीतिक अर्थव्यवस्थाओं की दशा–दिशा निर्धारित करते है, तब राज्य की 'स्वायत्तता' और प्रभुता को पारंपरिक चश्में से कैसे देखा जा सकता है, इसकी पुर्नसरंचना व पुनर्परिभाषित करने की आवश्यकता है, लेखक ने चिंतक समीर अमीन के माध्यम से वर्तमान परिदृश्य को ठीक ही स्पष्ट किया है, अमीन के शब्दों में, ''पूँजीवादी विस्तार सामान्य रूप से व्यवस्था की परिधियों और केद्रों पर प्रतिकूल, प्रभाव डालते है, प्रारंभ में वे समाज की एकीकृत करते है और दूसरी अवस्था में ये समाज को नष्ट करते है, और अंततः राष्ट्र को ही ध्वस्त करते है या इसकी क्षमताओं की हत्या कर देते है,''यदि भूमंडलीकरण के प्रभावों की गंभीर पड़ताल की जाये तो स्थिति स्पष्ट हो जाएगी, भारतीय राष्ट्र राज्य की दशा अमीन के विश्लेषण से भिन्न दिखाई नहीं देगी।

नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एंड लाईब्रेरी द्वारा प्रकाशित और पॉच अध्यायों में विभाजित इस मोनोग्राफ के लेखक शिव नारायण सिंह ने महात्मा गॉधी के विचारों के हवाले से एक तरह की चेतावनी दी है, चेतावनी यह है कि यदि जनता में राज्य के चरित्र और उसकी प्रभुता के व्यवहार व प्रभावों को समझने की 'क्षमता' पैदा हो जाती है तो वह सत्ता प्रतिष्ठान को कभी भी जन–विरोधी होने नहीं देगी, जनता का प्रतिरोधी प्रभुत्व, राज्य और समाज के शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोधी के लिये वैज्ञानिक ढंग से समाधान तलाश करने में ऐतिहासिक भूमिका निभा सकता है, सार्त्र और फेनॉन इस ओर इशारा कर चुके है।

पुस्तक : – डीकंस्ट्रक्टिंग द हेजेमनी ऑफ द स्टेट : डायलेक्टिक्स ऑफ डॉमिनेशन एंड रेजिस्टेंस
लेखक : शिव नारायण सिंह अनिवेद
प्रकाशक : नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एंड लाइब्रेरी तीन मूर्ति भावन, नयी, दिल्ली – 1
मूल्य : 50 रूपये

आउटलुक साप्ताहिक 27 मार्च, 2006

पुस्तक अंश

प्रतिरोधी वर्चस्व का राष्ट्रीय आंदोलन

महात्मा गॉधी ने देशी मुहावरों और विचारधारा के नए विमर्शको जन्म दिया

आधुनिक भारत की द्वंद्व कथा (इतिहास विमर्श);
लेखक : शिव नारायण सिंह अनिवेद
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, 21–ए,दरियागंज,नई दिल्ली;
मूल्य : 175 रूपये

कवि एवं संस्कृति समीक्षक शिव नारायण सिंह अनिवेद भारतीय राज्स्व सेवा के वरिष्ठ अधिकारी है। लेखक गॉव और शहर, गरीबी–अमीरी, ईमानदारी बेईमानी, आत्मरूझान–आत्म–समर्पण, स्वाधीन भारत तथा पराधीन भारत, भारत और इंडिया तथा समाज और राज्य की जटिलताओं से जुड़े सवालों से जूझते रहे है। यही वजह है कि यह पुस्तक अतीत के उत्खनन से वर्तमान में समझने में मदद करते है। पुस्तक के इस अंश में प्रभुत्व और प्रतिरोध की द्वंद्वात्मकता के सिद्धान्त के यथार्थ को उद्घाटित किया गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी का अंत होते–होते देशी समाज का शिक्षित वर्ग पंरपरा और आधुनिकता के द्वंद्व को समझने–सुलझाने में व्यस्त हो गया। देशी बुद्धिजीवियों ने राजनीतिक–आर्थिक क्षेत्रों में औपनिवेशिक–शासन की भौतिक उत्कृष्टता तो स्वीकार की पर वे सामाजिक सांस्कृतिक और बौद्धिक–नैतिक क्षेत्रों में अपनी उत्कृष्टता का दावा वेदों, उपनिषदों, महाभारत और रामायण तथा प्राचीन भारतीय कला और संस्कृति की विरासत के माध्यम से करने लगे। आधुनिकता और परंपरा के इस द्वंद्व का समाधान बीसवीं शताब्दी में विवेकानंद, टैगोर, तिलक, अरविंद, भारती, इकबाल और गॉधी की अवधारणाओं में ही हो पाया। प्रतिरोध की इस देशी विचारधारा की पहली राजनीतिक अभिव्यक्ति बंग–विभाजन के विरूद्व 1905–08 के स्वदेशी आंदोलन में हुई। स्वदेशी आंदोलन की सफलता के बाद राष्ट्रवादी आंदोलन की उपनिवेश–विरोधी प्रतिरोधी–वर्चस्व की परियोजना और अधिक आत्मविश्वास के साथ आधुनिक विषयवस्तु को देशी मुहावरों में अभिव्यक्त कर होने लगी। इस प्रकार राष्ट्रवादी आंदोलन औपनिवेशिक राज्य के बरक्स राजनीतिक–आर्थिक और सामाजिक सांस्कृतिक सभी पहलुओं पर प्रतिरोधी जन–आंदोलन बन गया। वर्चस्वधर्मी प्रतिरोध की सक्रिय रूप देने के लिए आधुनिक मुहावरों का देशीकरण किया गया ताकि वे किसानों और कामगारों की समझ में आ सके। 'जनराष्ट्र' के विचार को ''हिन्दुस्तान हमारा', 'वंदेमातरम्' और 'भारत माता' के रूपकों में व्यक्त किया गया। जबकि आधुनिक 'राष्ट्र–राज्य' को 'स्वराज्य' और 'रामराज्य' के देशी रूपकों मे प्रस्तुत किया गया। विदेशी माल में सामाजिक बहिष्कार और स्वदेशी के आंदोलन, भारत में विदेशाी पूँजी की घुसपैठ का विरोध और देशी उद्योगों की सुरक्षा की मांग के आंदोलन बन गए।

महात्मा गॉधी ने देशी मुहावरों और विचारधारा के एक पूरे नए विमर्श को जन्म दिया। वे अहिंसा, सत्याग्रह, और चर्खे के आदर्शो का आहवान करते हुए किसानों की भाषा बोलते थे। अहिंसा की विचारधारा औपनिवेशिक शासन के 'राज' के द्वारा देशी जनता के दैनंदिन जीवन में की जाने वाली हिंसा की नैतिक मीसांसा थी। उस हिंसा की, जो 1857 की क्रांति, 1919 के जलियॉवाला बाग तथा 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान हुए जनसंहारों में दिखाई पड़ी। चर्खा 'राज' को बराबर इस बात की याद दिलाता था कि उसने देशी कपड़ा और हस्तशिल्प उद्योगों का नष्ट किया है।

लोगों को उनके वास्तविक जीवन के निकट होने क कारण व तत्काल अपील करता था। चर्खे की लोकप्रियता औद्योगिक पूँजी के वर्चस्व के दावों के विरूद्व पारंपरिक हस्तशिल्प के प्रतिरोधक–प्रतीक के रूप में हुई। सत्य की खोज के रूप में सत्याग्रह तथा अवज्ञा आंदोलन अवैध विदेशी औपनिवेशिक आधिपत्य की मीमांसा थे। पंचायत स्थानीय आत्मनिर्भर ग्राम्य–समुदाय की स्वायत जीवन शैली की ओर वापसी का आहवान थी। इस तरह महात्मा गॉधी द्वारा किया गया हर राजनीतिक कार्य अपने पीछे कोई न कोई संदेश–प्रतीक लिये हुए था। इन सब राजनीतिक कार्यवाहियों के पीछे देशज नैतिक सांस्कृतिक मूल्य छिपे होते थे। महात्मा गॉधी ने जान लिया था कि विश्व के सबसे शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य का सैनिक मुकाबला करना असंभव था। अतएव उन्होनें साम्राज्य के नैतिक–बौद्धिक आधार को चुनौती दी। इसके लिये उन्होने देशी सामाजिक सांस्कृतिक प्रतीकों की भाषा ईजाद की, जो जन–जन, तक लोकप्रिय हो सकी। उदाहरण के लिए 12 मार्च, 1930 को नमक आंदोलन के लिए साबरमती आश्रम से दांडी मार्च पर जाने के वक्त उन्होने भारत के वायसराय लार्ड इर्विन को लिखा : 'नमक पर लगाए कर को मैं भारत में गरीब आदमी के दृष्टिकोण से सर्वथा अन्यायपूर्ण मानता हूँ। चूँकि स्वतंत्रता आंदोलन इस देश के सबसे गरीब व्यक्ति के लिये है, इसलिये मैं इस अन्याय का प्रतिरोध करूँगा।' आम भारतीय की भागीदारी में नमक आंदोलन उत्पादन के अपहृत स्रोतो की वापसी का जन–आंदोलन बन गया तथा अभी तक प्रशासनिक राजनीतिक सुधारों के लिये चल रहा स्वतंत्रता आंदोलन आर्थिक–स्वतंत्रता हासिल करने का आंदोलन भी बन गया। इस आंदोलन में 60,000 'राजनीतिक अपराधियों' को बंदी बनाया गया। इस तरह इस एक आंदोलन ने देश भर में हजारों आंदोलनों को जन्म दिया।

इस तरह गॉधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता आंदोलन ने 'सामाजिक–सांस्कृतिक एकता' के आधार पर राष्ट्रवादी प्रतिरोध के जन–आंदोलन को गति प्रधान की। महात्मा गॉधी द्वारा संचालित अवज्ञा तथा असहयोग आंदोलन पूर्णतया प्रतिरोध आंदोलन में रूपांतरित हो गए, जिसने ब्रिटिश शासन के खिलाफ राजनीतिक–आर्थिक, सामाजिक–नैतिक, प्रतिरोध को तीव्रता प्रदान की। इस रूप में बीसवीं शताब्दी का राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन राष्ट्र–राज्य की 'पुनः प्राप्ति' के लिए एक शक्तिशाली देशी वर्चस्वधर्मी विचारधारा प्रस्तुत करने लगा। पूँजी, बुद्धिवाद और राष्ट्र–राज्य की सार्वीकृत वर्चस्वधर्मी विचारधारा को स्वदेशी, सत्याग्रह और स्वराज की देशी विचारधारा की चुनौती से विरोध और समर्थन दोनों मिले। इसी बात में महात्मा गॉधी के युग में कांग्रेस का नैतिक राजनीतिक और बौद्धिक नैतिक नेतृत्व निहित है (चैटजी, 1986, 100)।

भारत के उपनिवेश विरोधी राष्ट्रवादी आंदोलन की सफलता, राजनीतिक–आर्थिक (स्वराज) और सामाजिक–सांस्कृतिक (स्वदेशी) दोनों क्षेत्रों में, रचित प्रतिरोधी न–वर्चस्व की रचना में निहित थी। इस प्रतिरोधी जन आंदोलन का वर्चस्वी, रष्ट्रीय चरित्र बहुत हद तक 'राज' के बौद्धिक–नैतिक और नैतिक राजनीतिक प्रतिरोध का परिणाम था, जिसे गॉधी ने देशी मुहावरों में सुत्रबद्ध किया था। इस प्रकार औपनिवेशीकरण और अनौपनिवेशीकरण के द्वंद्व ने बुर्जुआ व्यवस्था की सार्वीकरण की विचारधारा के प्रभुत्व और देशी विचारधारा के प्रतिरोध की द्वंद्वात्मकता का रूप ले लिया। ग्राम्शी की टिप्पणी है कि अंग्रेजों के खिलाफ भारत के राजनीतिक संघर्ष को युद्ध में तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है एक, आंदोलन का युद्ध दो, यथास्थिति का युद्ध या स्थापन युद्ध और तीसरा, भूमिगत युद्ध। ग्राम्शी मानते है कि गॉधी जी का सत्याग्रह एक प्रकार से स्थापन युद्ध था जो कभी आंदोलन के युद्ध और कभी भूमिगत युद्ध का रूप अख्तियार कर लेता था। ब्रिटिश सामानों का बायकाट स्थापन युद्ध करने का रूप था, हड़तालें सक्रिय आंदोलन का और शस्त्रों और लड़ाकू

पुस्तक अंश

सेनाओं की गुपचुप तैयारी भूमिगत युद्ध के रूप थे। बंग–विभाजन (1905–08) के खिलाफ स्वदेशी आंदोलन, अरविंद घोष, भगत सिंह और चंद्रशेखर आजाद के क्रांतिकारी आंदोलन, खिलाफत, आंदोलन (1919–20), रोलेट एक्ट के विरूद्व आंदोलन, असहयोग आंदोलन (1921–22), सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930–31 और 32–34), भारत छोड़ो आंदोलन (1942–46), ये सब ऐसे 'सक्रिय आंदोलन के युद्ध' थे जिनमें किसान, जन–जातीय और कामगार वर्गो को व्यापक पैमाने पर संगठित किया गया था। संवैधानिक और प्रशासनिक सुधारों में सहयोग और भागीदारी की मांगे स्थापन युद्ध थे। ग्राम्शी के विश्लेषण का केन्द्रीय स्वर यह है कि तीनों प्रकार के युद्धों में लोक हिस्सेदारी ने एक स्वतंत्र, स्वायत और समानांतर जन वर्चस्व को जन्म दिया, जोकि अंततों–गत्वा ब्रिटिश राजय के अधिकृत प्रभुत्व के लिये 'अस्तित्व संकट' बना। इस तरह कांग्रेस पाटी प्रभुत्वशाली वर्ग के साथ प्रभावहीन वर्ग पर भी नेतृत्व कायम करने में सफल हो पाई। ब्रिडलीं (1982, 150) ने कांग्रेस पार्टी की वर्चस्वशील स्थिति को इन शब्दों में व्यक्त किया है, ''कांग्रेस पार्टी राष्ट्रवाद की साक्षात मूर्ति प्रतीत होती थी ..... एकमएक हुई दो आकृतियॉः एक समाज (भारतीय राष्ट्र) प्रजातांत्रिक और स्वतंत्र राज्य (राष्ट्र–राज्य) की मांग कर रहा था कांग्रेस राष्ट्र की इन आवश्यकताओं को अभिव्यक्त भी कर रही थी और वह आकार भी ग्रहण कर रही थी जो नए राज्य को लेना था।'

गुहा (1997) और चैटर्जी (1998) ने विवाद उठाया है कि समाज के प्रभुत्वशाली और हाशियाई, वर्गो (सबआल्टर्न) की चेतना में 'संरचनात्मक फांक' थी और उपनिवेशवाद के विरूद्व हाशियाई प्रतिरोध का एक ''स्वायत क्षेत्र था' लेकिन मेरे विश्लेषण के अनुसार किसानों को बगावतें तथा अन्य जन–आंदोलन ज्यादातर उसी राजनीतिक और विचारधारात्मक ढांचे के भतीर घटित हुए जो राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं के द्वारा प्रसारित–प्रचारित किया गया था। उदाहरण के लिये चोरीचौरा कांड के दौरान होने वाली हिंसात्मक घटनाएं और भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान व्यापक जन आंदोलन, चेतना के उसी आवेग के भीतर घटित हुए, जिसे गॉधी ने क्रमशः असहयोग आंदोलन और ''भारत छोड़ो' आंदोलन का आह्वान करके पैदा किया था। सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन का उदाहरण ले। अगस्त 1942 का आंदोलन भारतीयों का ब्रिटिश राज्य को अपदस्थ करने का दृढ़ निर्णय था। 1942 तक आते–आते ब्रिटिश शासन से हर भारतीय तंग आ चुका था तथा किसी भी कीमत पर निजात पाना चाहता था। औपनिवेशिक भारत सरकार के गृह मंत्री रेनाल्ड मैक्सवेल ने 1941 में स्वीकार कर लिया था कि 'कांग्रेसी समाजवादी,' साम्यवादी सभी समाज के दुश्मन है और वर्तमान व्यवस्था को पलटना चाहते है और ऐसा किसी हालत में नहीं होने दिया जाएगा (नेहरू 1981, 537)।' फलस्वरूप ब्रिटिश शासन ने 9 अगस्त, 1942 को पूरे देश से लोगों को बंदी बनाकर जेलों में डाल दिया जिसके प्रतिरोध में पूरे देश में गॉवों, शहरों पर जगह लोग पुलिस और सेना के खिलाफ संघर्ष में सामने आ गए। ब्रिटिश शासन द्वारा निहत्थे लोगों पर आक्रमण किए गए। यह प्रतिरोध स्वाभाविक सहज जनआंदोलन था, गुलामी से मुक्ति तथा देश की आजादी के लिए। इस आंदोलन में हजारों भारतीयों ने जानें गंवाई और लाखों घायल हुए। पूरे देश में महीनों तक कई शहरों तथा ग्रामीण इलाकों में ब्रिटिश शासन का अस्तित्व समाप्त हो गया था।

सन् 1942 के इसी भारत छोड़ों आंदोलन के दौरान, आजमगढ़ जिले में मधुबन थाने में एक मृतप्राय हाशियाई वर्ग के एक किसान के शब्द, हाशियाई और प्रभुत्वशाली वर्गो की चेतना की अंतः संबंधता पर प्रकाश डालते है। जिला अधिकारी निबलेट (हनिंघम, 1983, पृ0 34 पर उद्धत), ने रिकॉर्ड किया है, 'कांस्टेबिल ने उद्भुत काम किया। उस रामछत्तर तिवारी पर लगाया गया उसका पहला निशाना चूक गया जो अपने सहयोगियों से चिल्लाकर कह रहा था कि महात्मा गॉधी ने चमत्कार करके सारी गोलीबारी को व्यर्थ कर दिया है। अगले निशाने पर उसे धराशायी कर दिया, उसके अनुगामी आठ–दस साथिर्यो का भी वहीं हश्र हुआ।' गॉव के एक किसान का महात्मा

गॉधी के चमत्कार में विश्वास देखिए कि अंग्रेजो की गोलियों से भूने जाने के वक्त भी एक निशाना चूकने को वह महात्मा गॉधी की चमत्कार मान रहा था।

जनसत्ता दिल्ली 15, जनवरी 2006

पुस्तकायन

स्वतंत्र भारत के अंतर्विरोध

अनामिका

जो जितना बड़ा होता है, उतने बड़े होते है उसके द्वंद्व किसी प्रश्न के उत्तर में मेरे पिता डॉ किशोर ने समझाया था। जिस साल मै कालेज में दाखिला लेने चली थी, रास्ते भर वे वृहत्तर समाज की मूल विडंबनाओं पर कुछ कुछ कहते गए थे और अंत में हॉस्टल की सीढ़ियों पर अपने गीत की जो पंक्तियॉ उन्होने मेरी जेब में डाली थी, सहज ही उनका स्मरण हो आया आधुनिक भारत की द्वंद्व कथा पढ़ते हुये। पक्तियॉ थी : 'जो अपने से आप डरेगा– उसका कौन सहारा होगा। जो अपने को भूल गया हो। उसका कथा ध्रुवतारा होगा। वह तो पौरूष का अभियानी–दोनों तट से छूट गया जो, मेरे सौ अभियान बहुत कम–पर ऐसी मंझधार सकें जो।.....'

आगे की पंक्तियॉ पुस्तक का सूत्र पकड़ने में अधिक सहायक होगीः 'जिसके भय से डर कर आगे–बड़े–बड़े साधक–सन्यासी – उस दुविधा के ही त्रिशूल पर, मेरे मन की नगरी,काशी।'

किसी भी काव्य पंक्ति का 'मैं' एक व्यक्ति था 'मै' तो रहता नहीं, अपनी पूरी पीढ़ी का 'मै' होता है–एक गुच्छा मैं–'खट्टे अंगूरों का गुच्दा जिसकी ताक में लोमड़ी सर उठाए रह गई या चाभियों का गुच्छा हो समुंदर में गुम हो गया, एक तरह से उस पूरे 'कथा सरित सागर' में जो 'भारत दैट इज इंडिया'' की मनःस्थिति/परिस्थिति का एक बड़ा रूपक माना जाना चाहिए।

शिव नारायण सिंह अनिवेद की पुस्तक को पढ़ते हुए जैसे मुझे पिता याद आए लिखते हुए अनिवेद जी को उनके बाबा–'इस पुस्तक की पृष्ठभूमि में मेरे स्वतंत्रता सेनानी पितामह स्वर्गीय श्री शिवदर्शन सिंह के .... अनुभव है। 1941 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन'' के दौरान जेल में गुजारे छह महीने .... मैं उन्हीं के साहचर्य में दर्जा बारह तक गॉव में ही रहा–पढ़ा। बाबा अक्सर गुलामी के दिनों के हालात, आजादी के आंदोलन, खासकर महत्मा गॉधी तथा सुभाषचदं बोस के किस्से सुनाया करते थे। वे आजाद भारत की बदलती शक्लों–सुरत का तप्सरा भी किया करते थे।

सामाजशास्त्रीय विश्लेषण की कोई गझिन पुस्तक ऐसी अंतरंग बतरस के साथ शुरू हो तो सुख होता है। (सुख बड़ी नालायक चीज है वैसे, अक्सर तो जहॉ उसे ढूँढों, वह होता नहीं, और गली के नटखट बच्चे की तरह टकरा जाता है वहीं जहॉ उसकी बिल्कुल ही उम्मीद न हो–जैसे इस तरह की बोकराद–सी दिखने वाली विमर्शात्मक पुस्तकों मे। हाथ मे एसी पुस्तकें उठाते ही आप तैयार बैठ जाते है अक्सर कि अब चलेगी, बम–बारूदें, बड़े–बड़े हथगोले बरसेगें–आप्तवाक्य, सिद्धान्त, जार्गन, कठिन से कठिन उद्धरण ऐसी किताबों के जो सिलसिलेवार ढंग से पढ़ी क्या, देखी भी नहीं गई होगी। पुराने जमाने में रूपवती स्त्रियों की चर्चा सुन–सुनकर ही उनसे प्रेम हो गया था। कभी दरबार में कोई चित्रकार अधूरा बना चित्र ले आया था तोते ने दूर देश की किसी राजकुमारी के अनिंद्य सौंदर्य की चर्चा की और पूर्व रागपूर्ण वैभव में छपाक्। 'बिन देखे और बिन पहचाने, तुम पर हम कुरबान' की स्थितियॉ जनजीवन में भी अक्सर घटित दीखती हैं स्त्री प्रसंग में ही नहीं, पुस्तक–प्रसंग में भी। पद्मावती की चर्चा सुन कर ही जैसे रत्नसेन प्रेमकातर हो गया था, ग्राम्शी फूको–देरीदा, फेनो–फ्रेयरे और मार्क्स गॉधी तक की एक ही मूल पुस्तक आद्योपांत पढ़े बिना लोग प्रेम दीवाने होने दिखाई दिए है, प्रेम दीवाने ही नहीं भक्ति रस से ओत–प्रोत भी।

जनसत्ता दिल्ली 15, जनवरी 2006

इस ''भक्ति रस' ने देश का बड़ा अनिष्ट किया है, पर इस पुस्तक के लेखक की विशेषता यह है कि इसने भक्ति रस से बच निकलने की कोशिश की है, हालांकि कुछ झाल बार–बार बजते सुनाई देते है। 'ग्राम्शी पामदत्त, पामदत्त–ग्राम्षी'। संकल्प ही कुछ ऐसा लिया हैः ग्राम्शी के सुत्रों से भारत की द्वंद्व–कथा का विघटन। इसमें कोई हर्ज नहीं है माओं ने कार्ल मार्क्स के सूत्रों से चीन के कृषक समाज की मनोरचना समझी थी। कोई कहीं से चश्मा उठा सकता है, चुनौती सिर्फ इतनी है कि अपनी आंखे भी खुली रहें। कितना भी बढ़िया चश्मा हो, अपनी आंखे बन्द होगी (चाहे भक्ति रस में ही बंद क्यों न हों) या सावन के अंधे को हरा ही हरा सूझेगा–तब तो बात बनने से रही।

अनिवेद जी ने भरसक आंखे खुली रखी है, लेकिन बाबा की सुनाई हुई कहानियों के समानांतर ऐतिहासिक विमर्श चलता था वैयक्तिक इतिहास के समकक्ष बहती समाजशास्त्रीय विश्लेषण की धारा तो बात और साफ होती। 'ईस्ट इज ईस्ट एंड वेस्ट इज वेस्ट' का जमाना गया तो 'रामझरोखे बैठ कर जग का मुजरा लेने का भी।' 'मछली–मछली–कितना पानी।' पूछने से बेहतर है पानी में उतर कर खुद देखना या याद करना कि जब भी पानी में उतरे थे, कैसा लगा था, वह कितना गहरा या उथला था, कहॉ उलझ जाता है पानी से पानी, कहॉ उलझ जाता है जाल से जाल, कैसे उतर जाता है पानी– आंखों का या चेहरे का, अपना या देश का। वैयक्तिक इतिहास, छोटी घटनाओं के आलोक में बड़ी घटनाओं की व्याख्या और अधिक रोचक हो सकती थी–किताब की भूमिका इसकी उम्मीद जगाती भी है।

प्रथम विश्व युद्ध तक इतिहास लेखन सिर्फ यूरोपीय हमलावरों की बपौती था। उन्होनें इतिहास ऐसे लिखे कि लगा–सारी दुनिया का एकल मार्तड यूरोप है उसी के चारों ओर चक्कर काटती है बाकी सारी दुनिया। यूरोप के बाहर की दुनिया में जो रहते है जानवरों से थोड़े बेहतर है, उन्हें सभ्य, विनयशील 'पालतू'' बनाना भी परम पावन कर्तव्य है यूरोप के लोगों का।.... विश्व युद्ध के बाद स्थितियॉ बदली, राष्ट्रीय चेतना जगी, उपनिवेश वैधानिक रूप से संप्रभु हुए पर वह मानसिक दासता बनी रही, जिसके लिए अंग्रेजी का बड़ा लोकप्रिय शब्द है हेजेमानी। वह जिसे कहते है 'ओल्ड वाइन इन न्यू बॉटल्स'–गोरे साहब गए तो उसी भवन–विन्यास, वस्त्र–विन्यास और संरचना–विन्यास में भूरे साहबों ने पदार्पण किया उसी खट–खट, धकाधक–चकाचक के साथ जो हम हरचरनाओं को फिर से सहमा गई अपने मेः कविगण सोचने लगे' 'राष्ट्रगीत में भला कौन यह भारत भाग्य विधाता है/फटा सुथन्ना पहले जिसका गुन हरचरना गाता है। 'मखमल टमटम' बल्लम तुरही पगड़ी छत्र चंवर के साथ/तोप छुड़ा कर ढोल बजा कर जय–जय कौन कराता है/.... कौन–कौन है वह जन–गण–मन अधिनायक/वह महाबली डरा हुआ मन बेमन जिसका बाजा रोज बजाता है।

उसके बाद शुरू हुई शाप–विमोचन/प्रेतमुक्ति या प्रभावभेदन की मानसिक थेरैपी जिसे 'डीकॉलोनाइजेशन आफ माइंड'' कह कर लोकप्रिय किया गया। (नामवरजी के लेख का इसी शीर्षक से प्रो0 हरीश त्रिवेदी ने अनुवाद किया और अंग्रेजी (ऑनर्स) के पाठ्यक्रम में भी रखवाया–इस शाप विमोचन यज्ञ का एक पुनश्चरण यह भी) और न सिर्फ भारत में बल्कि एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के कई नए राज्य–राष्ट्रों में कई ऐसे दुभाषिया विद्वान इस मोर्चे पर कटिबद्ध हुऐ जिन्हें अपनी मिट्टी से कुछ भी लेना–देना, जिन्होनें अंग्रेजी अंग्रेज बन जाने के लिए नही पढ़ी थी, इसलिए पढ़ी थी कि यह वृहत्तर विश्व पर एक खिड़की की तरह खुलेगी–खिड़की जो घर में होती ('दीवार में रहती है') और खुलती भी है तो इस खातिर कि घर में धूप–हवा आती रहे। सन येत सेन (चीन), फ्रैंक फेनन (अलजीरिया), जलाल अली अहमद (इरान), एजाज अहमद, आशिष नंदी वगैरह के अलावा कोरिया, ताइवान, वियतनाम, इंडोनेशिया आदि के नैतिक

भूगोल पश्चिमी विद्वानों (ब्रूस क्यूमिन, स्टीन टोनेसन, फ्रेडरिक कूपर, माइकेल एडास आदि) ने भी भरपूर लिखा। ....

यह खुशी की बात है कि जिन दुखदेव सिंहो (ब्यूरोक्रेटों) को परमिट कोटा राज का प्रजापति कहा जाता है– उनमें से कुछ विभीषण भाव से बाहर आकर भितरिया बातें ('ब्यूरोक्रेजी बातें) कहने को प्रस्तुत हुए है। उपमन्यु चैटर्जियों की परंपरा का प्रयास तो इस नहीं कहेगे क्योंकि पुस्तक विमर्शात्मक है, पर भारतीय प्रशासन की ही थैली का चट्टा–बट्टा होने के कारण अनिवेद यह तो समझते ही है कि 'कलई' के भतीर बटलोही के छेद कहॉ–कहॉ 'ढंक' मिट जाते है, हमारी राज्य व्यवस्था की मूल विडंबनाऍं क्या है।

किरण बेदी का एक धारावाहिक रेडियों पर प्रसारित होता है 'गलती किसकीः कहॉ हुई भूल'। शीर्षक तो बोकरादी है, मगर उसके पीछे का भाव ठीक है। ठीक इसी शैली में यह पुस्तक भी लिखी गई है। समस्याओं के मर्म तक पहुॅचने की विह्वलता इस एक जेनुइन किताब बनाती है। इस पर टिप्पणी करने के पहले इसकी मूल प्रस्तावनाएं सामने रखना जरूरी है। 'शासित समाज पर राज्य दो तरह से वर्चस्व कायम करता है–सैनिक–आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण और सांस्कृतिक–नैतिक–बौद्धिक सहमति/अहसमति द्वारा।' ' कौटिल्य के 'धर्म' और 'दंड' विधानों की सहमति (कंसेट)और दमन (कोअर्शन) के प्राचीन रूपकों की तरह देखा जा सकता है।' ' शासन के प्रत्यक्ष माध्यम पुलिस तथा सेना है और अमूर्त माध्यम नागर–समाज (सिलि सोसायटी), मीडिया, स्वायत संस्थाएं, अकादमियॉ, मनोनयन, निमंत्रण, बैठकें, प्रायोजित कार्यक्रम, उत्सव, फेलोशिप, पुरस्कार, मान्यताएं और दंड।

'राजनीति अगर मूलतः प्रभुत्व का प्रतीक है तो संस्कृति प्रतिरोध का। इसलिए सांस्कृतिक मामलों में राज्यका हस्तक्षेप नारकीय स्थितियॉ पैदा करता है।' (आगे अनिवेद जी ने साहित्य अकादेमी, ललित कला अकादेमी, संगीत नाटक अकादेमी, राष्ट्रीय नाटय विद्यालय, दूरदर्शन, आकाशवाणी, फिल्म महोत्सव निदेशालय, केन्द्रीय और राज्य विश्वविद्यालयों, संग्रहालयों, पुस्तकालयों द्वारा संपोषित 'हाई कल्चर' या 'ग्रेट टैडिशन' के बरक्स लोक कलाओं की देशज पंरपराओं नाटकों पर सार्थक प्रश्न उठाए है।)

आधुनिक राष्ट्र राज्य के वर्चस्व का विखंडन औद्योगिकरण, शहरीकरण, बाजार, लोकतंत्र और कानून की शिनाख्त के बगैर तो संभव था ही नहीं। इस संदर्भ में इन्होनें अंतदृष्टिपूर्ण विश्लेषण किया है कि कैसे भारतीय समाज का मौलिक रूपांतरण न करके कमोपयोगी (फंक्शनल) रूपांतरण अंग्रेजी शासन ने किया और स्वतंत्रता के बाद भी ज्यों का त्यों वे सारे कानून और स्ट्रक्कर अपना लिए गए जो असंख्य अंतर्विरोधों का मूल बने, निरौद्योगिकरण और भयंकर भू–विधेयकों का मूल भी। .... इन सबके समानांतर इतिहास को दुबारा लिखने की साजिश (ओरियंटलिज्म), भूरे साहबों और रट्टू क्लको की जमात खड़ी करने की साजिश, परिधीय पूंजीवाद की शुरूआत, बुर्जुआ व्यवस्था का संस्थानीकरण, राज्स्व की क्रूर वसूली, आतंक का शासन भी रीढ़ तोड़ने वाले सिद्ध हुए। सूबेदार सीताराम बरकअक्स रिसा–मुंडा और भिखारी ठाकुर प्रसंग रोचक है। एक सुरक्षा वॉल्व की तरह प्रकल्पित कांग्रेस का चरित्र धीरे–धीरे कैसे बदला–खासकर बंग–भंग के बाद और चरखा, नमक आदि साधारण वस्तुएं प्रतीकों के रूप में विस्तार पा कैसे नाटकीय ढंग से गॉधी के सत्याग्रह को कभी आंदोलन, कभी स्थापना बुद्ध तो कभी भूमिगत युद्ध के रूप में लगातार त्वरा देती गई–इसका विश्लेषण भी अच्छा है।

इस पुस्तक के परवर्ती तर्को की पृष्ठभूमि में जो मूल सिद्धान्त काम कर रहे है, उन्हें 'सोशल डार्विनिज्म' और डिपेंडेसी सिद्धान्त' शीषर्को में समेटा जा सकता है। समाज वैज्ञानिक तो मैं हॅ नहीं, लेकिन सामान्य ज्ञान के आधार पर जो मुझे लगा वह यह कि ब्रिटेन, फ्रांस, नीदरलैंड्स, परवर्ती जर्मनी, इटली, अमेरिका और जापान आदि पूॅजीवादी राष्ट्र राज्यों के बीच ग्लोबल संसाधनों के नियंत्रण की जो गिरहकट स्पर्धा चल रही है – 'सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट'

की घुड़दौड़ में नस्ल और राष्ट्र भी जिस तरह शामिल है उसमें संस्कृतियों रेसकोर्स का मैदान भर रह गई है– धूल–धक्कड़, हल्ला–गुल्ला और सीटी। सामाजिक–आर्थिक परंपराएं भी उत्पादन के साधनों झिझियॉ सी खेलती हुई जान पड़ती है। चीन का ताइपिंग विरोध या बॉक्सर विद्रोह, भारत मे 1857 का गदर या टुनिशिया का सेनुसाई विद्रोह भी डीकॉलोनाइजेशन प्रोजेक्ट के हिस्से ही माने जाने चाहिए पर बीसवीं शताब्दी तक आते–आते यह प्रोजेक्ट थोड़ा विषम हो गया। भूत भगाते–भगाते ही क्या जाने क्या हो गया कि 'भागते भूत की लंगोट भली' लगने लगी। 'गुड खाएं गुलगुले से परहेज' वाला हाल कहें इसको कि सारि–सारि को गहि लियों थोथा देहिं उड़ाय' वाला हाल–गहन द्वैत की एक विषय स्थिति तो यह है ही। अनिवेद जो स्पर्धात्मक पूँजीवाद के आलोक में इसका सफल ग्रफांकन करते है और वैकल्पिक आधुनिकताओं की तर्ज पर, इसकी व्याख्या। राज्य संगठन की 'मोल्टिग पॉट'' और ''मेटानेशन स्टेट' संरचनाओं के बीच, पूँजीवाद और समाजवाद के बीच उभरे द्वंद्वों को अर्थतंत्र में राज्य के समझदार हस्तक्षेप के कीनिजियन सिद्वांत ओर सबऑल्टर्न आंदोलनों की दबाव नीति द्वारा 'सिविल समाज' ही शासित करेगा– कुल मिलाकर पुस्तक यही 'विजन' खड़ा करती है।

'सीएसडीएस' नामक संस्था ने समाजशास्त्रीय विमर्शो के कई महत्वपूर्ण खंड हिंदी में प्रकाशित किए है। अभय कुमार दुबे द्वारा संपादित इन खंडों की श्रृंखला में ही यह पुस्तक भी रखी जानी चाहिए। निर्मला जैन ने इसका अच्छा अनुवाद किया है– प्रवाहपूर्ण और साफ–सुथरा।

अनामिका
आधुनिक भारत की द्वंद्व कथाः शिवनारायण सिंह अनिवेद, अनु. निर्मला जैन; वाणी प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली; 175 रूपये

समाज–संस्कृति

भारत को समझने के लिए

अजीत राय

आधुनिक भातर की द्वंद्व कथा
शिव नारायण सिंह अनिवेद
अनु: निर्मला जैन
वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली –2
कीमत 175 रू0

भारत जैसे बहुभाषी, बहुसांस्कृतिक और बहुस्तरीय समुदाय वाले देश के आधुनिक चरित्र को समझने के लिए कोई सामजशास्त्रीय राजनीतिक सैद्धांतिक विकसित करना सचमुच जोखिम का काम है, चर्चित चित्रकार, कवि और संस्कृति समीक्षक शिव नारायण सिंह अनिवेद ने अपनी इस नई किताब में यह जोखिम उठाया है इसलिए जाहिर है कि उनकी विचार पद्धति और निष्कर्षो को लेकर नई बहस होनी चाहिए उन्होने वर्तमान को समझने के लिए इसे अतीत का उत्खनन कहा है लेखक ने कंपनी राज से लेकर आज के भूमंडलीकृत समय तक राज्य के वर्चस्व प्रभुत्व और उसके खिलाफ प्रतिरोध का विश्लेषण संस्कृति समाज व अर्थव्यवस्था के सापेक्ष किया है मूल रूप से यह पुस्तक उनके शोध निबंध 'डिकंस्ट्रक्टिंग द हेजेमनी ऑफ द स्टेट डायलेक्टिक्स ऑफ डॉमिनेशन ऐंड रेजिस्टेंस' का निर्मला जैन द्वारा किया गया हिंदी अनुवाद है।

हिंदी में इस तरह की गंभीर किताबों के साथ कई दिक्कते हैं अनुवाद जटिल होता है, अवांछित तकनीकी शब्दों की भरमार होती है और प्रायः अनावश्यक बौद्धिक जटिलता विमर्शको अनुर्वर बना देती है यह पुस्तक भी इसका अपवाद नही है दूसरी समस्या 'कंटेंट और फार्म में संतुलन बिठाने की है हमारे यहॉ अंग्रेजी में जो बौद्धिक विमर्श हो रहा है उसमें फार्म इतना प्रभावशाली है कि कंटेंट दब जाता है और अनुवाद के बाद हिंदी में उसके सहारे यथार्थ तक पहुंचना अस्वाभाविक लगने लगता है उसी तरह राज्य का एकतरफा प्रभुत्व (डामिनेशन) और राज्य का ऐसा वर्चस्व जिससें समाज की स्वीकृति शामिल हो (हेजेमनी) का द्वंद भी आजादी के बाद भारत में लगातार मौजूद रहा है एक उलझन मिशेल फूको और अंतोनियों ग्राम्शी को साथ साथ तथा महात्मा गॉधी को बीच में लाने से पैदा हुई है।

इस संदर्भ में लेखक का तर्क है कि इटली और भारत में एक समानता यह है कि दोनो देशों में राष्ट्र राज्य का निर्माण पहले हुआ और नागरिक समाज का विकास बाद में जबकि यूरोप में समाज पहले बदला और राष्ट्र–राज्य बाद में बना, इसलिए 'अंतोनियों ग्राम्शी की जेल डायरी' भारतीय समाज को समझने में काफी मददगार है। दरअसल औपनिवेशिक दासता के कारण भारतीय समाज में संरचनात्मक बदलाव नही हो सका हमारा राष्ट्र सिविल सोसाइटी के बदले प्रभुत्वशाली समूहों के समुच्चय से बना इटली में भी समाज नही बदला, दोनो देश पूंजीवादी भी नही हो सके और पेरिफेरल कैपिटल स्टेट बन गये जहां राज्य और समाज का स्वाभाविक विकास नही हुआ पूंजीवादी राज्यों में जो काम सिविल सोसायटी करती है अर्ध नेशन स्टेट या सरकारों को करना पड़ता है इसीलिए उसे सामाजिक अनुमोदन की जरूरत पड़ती है समाजिक अनुमोदन के लिए राज्य और समाज दोनो संस्कृति का इस्तेमाल करते है इसी बिन्दू पर गांधी एक संदर्भ बिंदु हैं जो मानते हैं कि जब तक राज्य को समाज से नैतिक सांस्कृतिक समर्थन नहीं मिलता तब तक सेना और पुलिस के बल पर सरकार के वर्चस्व का कोई मतलब नही है।

समाज–संस्कृति

अनिवेद की इस सैद्धातिकी पर कि राष्ट्र राज्य के रूप में भारत का विकास कंपनी राज्य के औपनिवेशिक, आर्थिक उपकरणों से जुड़ा है। मदभेद की गुंजाइश है दूसरे अस्मितावादी विचारक पूछ सकते है कि लेखक किस भारत की बात करता है और उसमें दलित और स्त्रियां कहा है ये सारे सवाल इसलिए उठ रहे है कि हिंदी में एक ऐसी किताब अरसे बाद आई है जो अपने विमर्श में कई ऐसी परतें हटा रही है जिसके हम अभ्यस्त नही है यह सच है कि आपात्काल से पहले तक भारत एक 'हेजेमनी स्टेट' था उसके बाद आज तक किसी सरकार को 'हेजेमनी' नही मिली , भले ही उसका वर्चस्व बना रहा अब भूमंडलीकरण के नए दौर में जब राज्य लगातार कमजोर हो रहा है सिविल सोसाइटी के खिलाफ सारे राजनैतिक दल पूंजी और सत्ता के पक्ष में एक मत है कई कंपनियों की अथव्यवस्था कई राष्ट्र राज्यों से बड़ी हो चुकी है, तो क्या राज्य का प्रतिरोध ही काफी होगा। यह एक बुनियादी सवाल है ग्राश्मी जिस सिविल सोसाइटी बनाम राज्य का द्वंद्व सामने रखते है वह सचमुच भारत के लिए प्रासंगिक हो गया है। भारतीय शासन व्यवस्था का 'फार्म' इतना शक्तिशाली है कि 'कंटेंट' बदलने पर भी राज्य को हेजेमनी नही, डॉमिनेशन ही हासिल होता रहेगा। सोवियत संघ में यह हुआ और कल्पना करें भारत में कम्युनिस्ट सरकार बन जाए तब भी उसे हेजेमनी नही हासिल होगी। यह किताब कई बहसे उठा रही है भारत को समझने के लिए अतीत का उत्खनन और वर्तमान को अनावृत करते हुए लेखक ने विमर्ष के लगभग सभी मुद्दों को आम आदमी के रोजमर्रा के जीवन के आईने में देखने की कोशिश की है इससे 'पब्लिक स्फेयर' और 'एकेडमिक स्फेयर' के बीच की खाई कम हो गई है।

परख

आधुनिक भारत के द्वंद्व की निर्द्वंद्व कथा

डॉ अजय नावरिया

शिव नारायण सिंह अनिवेद की प्रस्तुत शोध पुस्तक आधुनिक भारत की द्वंद्व कथा भारतीय राजनीति और अर्थतंत्र के एक लंबे काल खंड के वर्चस्व और प्रतिरोध की उठापटक का गंभीर विश्लेषणात्मक आख्यान है यह कालखंड प्लासी की लड़ाई से स्वाराज–संघर्ष और आधुनक भारत की राजनीति तक फैला हुआ है 1757 से भारत के वर्तमान अस्मितावादी संघर्षों तक उनकी पैनी नजर ने वर्चस्व और प्रतिरोध के अलक्षित बिंदुओ को ढूंढा भी है और उनके महत्व को रेखांकित भी किया है।

खुद अनिवेद के शब्दों में यह पुस्तक क्या है? वे स्वीकारते हैं ''यह पुस्तक, भारत के वर्तमान को समझने के उद्देश्य से अतीत का उत्खनन है'' क्या हम इस स्वीकारोक्ति को इस पुस्तक लेखन का लक्ष्य मान सकते है? पूरे शोध ग्रंथ को पढ़ने पर हम पाते है कि यह कथन शोध कर्म की मात्र पहली भावाभिव्यक्ति है वास्तव में किसी भी गंभीर और प्रतिबद्ध शोधार्थी से हम सिर्फ उत्खनन की उम्मीद करके नही रह सकते इसे लेखक की विनम्रता माना जा सकता है सुविधा के ढंग में यह किताब राजनीतिक अर्थशास्त्र की है अलबत्ता यह विभिन्न अनुशासनों (जिसमें इतिहास से समाजशास्त्र तक शामिल है) का सुरूचिपूर्ण और सहज परिपाक है।

दरअसल यह किताब मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी इंग्लैड के आर्थिक और सामाजिक अध्ययन संकाय के प्रोजेक्ट के तहत लिखा गया शोध प्रबंध था अंग्रेजी में लिखा गया यह प्रबंध डी कंस्ट्रक्टिंग द हेजेमनी ऑफ स्टेटः डायलेक्टिक्स आफ डामिनेशन एंड रेजिस्टेंस नाम से मोनोग्राफ के रूप में छपा। इसे नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एंड लाईब्रेरी तीन मूर्ति भवन नई दिल्ली ने नवम्बर 2003 में छापा।

कुछ शब्दों के सामने उपस्थित होते ही हमारे कुछ छवियां भी आ जाती है पूंजी के साथ जिस तरह कार्ल मार्क्स जुड़े है उसी तरह वर्चस्व की बात चलते ही इटली के चिंतक अंतोनियो ग्राम्शी का याद आना स्वभाविक है। खुद लेखक ने जिन पॉच गुरूओ को अपनी सैद्धातिकी के लिए उत्तरदायी माना है उनमें ग्राम्शी भी हैं। कहना चाहिए की फ्रेंज फेनो के बाद ग्राम्षी ही मुख्य है। इनके अलावा उस क्रम में फ्रेयरे और फूकों भी हैं भारतीय संदर्भ में गॉधी भी है परंतु उनके समकालीन डा0 अम्बेडकर नही है क्या वर्चस्व और प्रतिरोध बहुस्तरीय नही होता? यह निर्विवाद है कि भारतीय संदर्भ में गॉधी ब्रिटिश शासन से प्रतिरोध का प्रतीक बनकर उभरे थे। परन्तु क्या डा0 अम्बेडकर के प्रतिरोध बिंदु से वे वर्चस्व के प्रतीक नही बनते है। इस पर लेखक ने अंतिक अध्यायों में कुछ हद तक रोशनी डालने की कोशिश की है बेहतर होता यदि पूना पेक्ट और यरवदा जेल में किए गये गॉधी के अनशन को भी इसी दृष्टि से देखा जाता। आरक्षण और उसके प्रतिरोध से जुड़े मुद्दे इस विश्लेषण को अधुनातम बनाते।

पेशे से प्रशासक और स्वभाव से कवि और चित्रकार अनिवेद ने इस पुस्तक को लिखने के लिए एक कवियोचित कारण का जिक्र भी किया है वे लिखते है गॉव और शहर, गरीबी और अमीरी ईमानदारी और बेईमानी, आत्म सम्मान और आत्म समर्पण स्वाधीन भारत और पराधीन भारत, भारत और इंडिया तथा समाज और जटिलताओं के सवाल हर वक्त मेरे दिलो दिमाग में गूंजते रहते थे जैसे जैसे शहरी अनुभवों का सिलसिला बढ़ता गया मुझे यह एहसास कचोटता गया कि गॉव में हमारा जीवन कितना बड़ा और जगत कितना छोटा था जबकि इसके विपरीत शहर में जीवन हर दिन छोटा होता चला गया है तथा जगत बड़ा से और बड़ा जीवन और जगत

के इसी द्वंद्व को पकड़ने की कोशिश यह पुस्तक है। क्या इसे लेखक का नास्टेल्जिया मानकार खारिज किया जा सकता है? कवियोचित संवेदनशीलता और यथार्थ की चिंतना ही मिलकर एक समाजोपयोगी दार्शनिकता को जन्म देती है । अनिवेद इस किताब में एक समाज विज्ञानी के साथ साथ दार्शनिक के रूप में भी दृष्टिगत होते है।

डॉ बी आर अम्बेडकर कहते है, ''स्वतंत्रता को किसी महान व्यक्ति के आगे समर्पित नहीं करना चाहिए, नायक पूजा या भक्ति, पतन और तानाशाही का रास्ता है,'' 1789 में हुई फ्रांस की क्रांति, से ड0 अम्बेडकर गहरे तक प्रभावित थे फ्रॉस की क्रान्ति ने पूरे पश्चिम का नक्शा बदल दिया था आधुनिकता की अवधारणा का सम्बन्ध भी फ्रॅस की क्रान्ति से जुड़ता है फ्रॉस की क्रांति स्वतंत्रता समता और बंधुता के लिए थी, सत्ता के संघर्ष में यह बात कभी तय नहीं हो पाती कि वर्चस्व और प्रतिरोध कब अपने–अपने रूप बदलकर, एक दूसरे की भूमिका में खड़े हो जाते है, क्या लेखक ने वर्चस्व और प्रतिरोध के इन विभिन्न रूपों को पहचाना है? कहना चाहिए कि लेखक ने इस बहुरूपता को बखूबी पहचाना है।

राज्य क्या है? मार्क्स के अनुसार, ''राज्य वह तंत्र है, जिसके माध्यम से बुर्जुआ समाज अपनी सामजिक शक्ति की व्यवस्था करता है, ''लेखक का मानना है कि राज्य प्लेटो और हीगेल के कथनानुसार 'मिथकीय' भी है और 'वस्तुगत' भी इस वस्तुगत अस्तित्व का विश्लेषण करते हुए वे राज्य के वर्चस्व कायम करने के तरीकों और प्रतिरोध से निपटाने की रणनीतियों का खुलासा करते है।

क्या ग्राम्शी प्रदत्त शब्द 'वर्चस्व' और प्रभुत्व में कोई अंतर है, अंग्रेजी में 'वर्चस्व' के लिए 'हेजेमानी' और 'प्रभुत्व' के लिए 'डामिनेशन' है अनिवेद लिखते है ''वर्चस्व लक्ष्य है, साक्ष्य है, प्रभुत्व तथा प्रतिरोध इस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन है, राज्य प्रभुत्व, शासित सामज की नैतिक–बौद्धिक–सांस्कृतिक सहमति से राज्य वर्चस्व की स्थिति पा लेते है। वे इसकी भूमिकाओं की अदला–बदली पर प्रकाश डालते हुए लिखते है, ''इसी तरह जन प्रतिरोध, व्यापक राष्ट्रीय जन–आंदोलन बनकर जन–वर्चस्व यानी सत्ता–परिवर्तन हासिल कर लेता है, जिसे फिर राज्य वर्चस्व प्राप्ति के लिये, उसी प्रक्रिया से गुजरना होता है''

इस तरह हम देखते है कि राज्य जो कि वस्तुगत तो होता ही है, मिथकीय भी माना जाताा है, अपने वर्चस्व के लिसे सत्त 'प्रयासरत रहता है, वर्चस्व के इस प्रयास में, प्रतिरोध की शक्तियॉ बाधाएं उपस्थित करती है, राज्य अपने वर्चस्व के लिए इन प्रतिरोधी शक्तियों को तोड़ना भी है और अनुकूल भी बनाने की कोशिश करता है।

अनिवेदन वर्चस्व की इस रणनीतिक मुहिम को स्पष्ट करते हुए लिखते है, '' प्राचीन एवं मध्ययुगगीन ऐतिहासिक, सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों की तुलना में, आधुनिक 'वर्ग–विभाजित समाज' में प्रभुत्वशाली वर्ग द्वारा प्रभुत्वहीन वर्ग के ऊपर नैतिक–बौद्धिक वर्चस्व स्थापित करने के लिए, कला तथा संस्कृति के साथ राज्य सत्ता का संबंध नए–नए रूप अख्तियार करता है, आधुनिक राष्ट्र–राज्य सत्ता तथा संस्कृति का अंतसंबंध बहुआयामी हो जाता है तथा मूर्त एवं अमूर्त दोनों स्तरों पर लगातार चलता रहता है,''

इस रणनीतिक मुहिम के औजारों और हथियारों के रूप वहीं पुराने नहीं है, वे अधिक पैने, गहरे और अदृश्य भी है, वे लिखते है ''आधुनिक राष्ट्र राज्य–सत्ता केवल ठोस तथा प्रत्यक्ष माध्यमों, जैसे पुलिस तथा सेना द्वारा ही संचालित नहीं होती, वरन् अमूर्त रूप में नागर समाज मीडिया, स्वायत संस्थाओं, मनोनयन, निमंत्रणों समितियों, बैठकों, प्रयोजित कार्यक्रमों, उत्सवों, स्वीकृतियों तथा अस्वीकृतियों, फलोशिप तथा पुरस्कार, मान्यताओं एवं दंड के अनेकानेक माध्यमों से भी प्रभावशाली रूप में संचालित होती है,'' इस तरह कहा जा सकता है कि संस्कृतिक,

नैतिक–बौद्धिक, वर्चस्व बनाने के एक उपकरण के रूप में देखे जाने की मांग भी करती है, आखिरकार लेखक का यह मानना तर्कसंगत ही लगता है कि आधुनिक युग से पहले राजा, विभिन्न धार्मिक कर्मकांडों के द्वारा अपने वर्चस्व की स्थापना के लिये चक्रवर्ती, सम्राट और महाराजाधिराज की पदवियॉ ग्रहण करता था, इसी तरह शहशांह, जहॉपनाह, सुल्तान और कैसरे–हिंद के साथ–साथ राय बहादुर, सर औरे लार्ड की पदवियों को भी देखा जा सकता है, आखिरकार अकबर ने मनसबदारों की नियुक्ति अपने वर्चस्व को कायम करने के लिए उसी तरह की थी, जिस तरह 'नवरत्न' की थी, यह सब उपकरण मिलकर प्रतिरोध के विरूद्ध एक वैधता अर्जित करते रहते है।

क्या धर्म वर्चस्व को कायम करने और प्रतिरोध की हवा निकालने के औजार के रूप में काम नहीं करता है? यह शोध पुस्तक हमें इस तथ्य से बखूबी अवगत कराती है, उल्लेखनीय है कि युद्ध एवं दमन के माध्यम से मौर्य साम्राज्य की स्थापना सुनश्चित कर लेने के बाद, सम्राट अशोक ने अपनी जनता के ऊपर नैतिक एवं बौद्धिक वर्चस्व स्थापित करने लिए बौद्ध धर्म का व्यापक उपयोग तथा प्रचार–प्रसार किया भारतीय सम्राटों में अशोक के बाद महान सम्राट माने जाने वाले अकबर ने भी युद्ध तथा दमन के माध्यम से मुगल साम्राज्य को स्थागित कर चुकने के पश्चात् शासित समाज के बहुसंख्य हिन्दू समुदाय में अपने शासन के प्रति सहमति उत्पन्न करने के उद्देश्य से 'दीने इलाही' नाम के धार्मिक–सांस्कृतिक पंथ की स्थापना की तथा इसे इस्लाम से अलग बताते हुए इस नए पंथ का व्यापक प्रचार प्रयास किया।''

लेखक की इन घटनाओं की नई व्याख्या से आप असहमत हो सकते है परंतु इन्हें वर्चस्व स्थापित करने के उपकरणों के रूपों से खारिज नहीं किया जा सकता, इस संदर्भ में वे और आगे बढ़ते हुऐ देवदासी परंपरा का भी एक ''नया पाठ' प्रस्तुत करते है, ''राजेन्द्र चौल ने राजधानी तंजौर को राजनीति तथा संस्कृति का प्रमुख केन्द्र बनाने के उद्देश्य से छोटे–छोटे मंदिरों से चार सौ के करीब देवदासी परंपरा की नर्तकियों को तंजौर में लाकर उन्हें राजकीय संरक्षण प्रदान किया, बारह वर्ष से कम उम्र की लड़कियॉ, मृदंग, तलवार और कटार के साथ इन मंदिरों में भगवान को ब्याह दी जाती थी तथा उन्हें रहने, खाने–पीने इत्यादि की राजकीय सुविधाए प्रदान की जाती थी, ये देवदासी नर्तकिया। लोगों के बीच अपने प्रदर्शनों से राजा की दैवी शक्ति एवं सामर्थ्य का रौब एवं उसके प्रति श्रद्धायुक्त भय पैदा करती थी।''

इस तरह हम देखते है कि राज्य अपने वर्चस्व के लिये सतत संघर्षशील रहता है भारत में 1757 में प्लासी की लड़ाई में ईस्ट इंडिया कंपनी की विजय के बाद व्यापारी कंपनी भारत के राज पर काबिज हो गई, हालांकि प्रतिरोध की हवा निकालने के लिये मुगल वंशजों को, 1857 तक दिल्ली के राजा के रूप में एक सांस्कृतिक प्रतीकात्मक चिन्ह बनाए रखा गया था। 1857 के विद्रोह के बाद बहादुरशाह जफर के देश निकाले के साथ ही ताज का राज भारत में निर्विध्न हो गया।

किताब का दूसरा अध्याय कंपनी के राज के सत्ता–संबंधों का गहराई तक निरीक्षण करता है, लेखक का यह मानना तथ्यपरक है कि 'भारतीय समाज का मौलिक रूपांतरण न होकर 'कर्मोपयोगी' रूपांतरण, अंग्रेजी हित में था, हमारे वर्तमान समाज की यही सबसे बड़ी त्राासदी है कि मध्य युग के पश्चात् अठहारवीं शताब्दीमें (जो पूरे विश्व में औद्योगिक और आधुनिक क्रॉति का युग था) हमारा प्रवेश स्वतंत्र समाज और राज्य के रूप में नहीं, वरन् कोलीनियल स्टेट की अधीनस्थ शाखा के रूप में हुआ'' वे इसी को हमारी समकालीन सोच, संस्कृति और सभ्यता में व्याप्त विडंबनाओं और विरोधाभासों का मूल कारण मानते है, भारत का यह रूढिवादी, अंधविश्वासी, जातिवादी गैर आधुनिक और अवैज्ञानिक समाज इसी अवस्था का सह उत्पादन कहा जा सकता है।

परख

यहॉ साथ ही में यह बात पर भी गौर करना चाहिए कि क्या भारत में कभी पूँजीवाद उस तरह पूर्णरूपेण आ पाया जिस तरह वह पश्चिम में आया था? इस पर विचार किया जाना चाहिए कि क्या पूँजीवाद और आधुनिकता परस्पराश्रित है? यह भी सोचा जाना चाहिए कि आखिर क्यों राष्ट्र की अवधारणा ज्यादातर उन्हीं देशों में पैदा हुई, जहॉ पूजीवाद का सूत्रपात कुछ समय

पहले हो चुका था? पूँजी की नई अवधारणा ने राज्य की पुरानी अवधारणा को प्रतिस्थापित किया था।

किताब के लेखक ने रजनी पामदत्त के हवाले से कंपनी राज के वर्चस्व में प्रतिरोध के रूप में अनेक आंदोलनों के उदाहरण दिए है, बंगाल और बिहार के सन्यासी विद्रोह, हो, कोल और संथालों के विद्रोह तथा 1857 का मातादीन और मंगल द्वारा शुरू किया गया विद्रोह इसी की मिसाल है।

परतंत्र भारत में अंग्रेजों के विरूद्ध चलने वाला राष्ट्रीय आंदोलन प्रतिरोध का प्रतीक बनता है, हिंसा के प्रतिरोध में अहिंसात्मक आंदोलन प्रतीक बनता है, फेनों की भाषा में हिंसा का जवाब उतनी ही बड़ी हिंसा के रूप में भी बनता है, यह इबारत भगत सिंह, सुखदेव और सुभाषचन्द्र बोस की है, दूसरी तरफ गॉधी जी का असहयोग आंदोलन है, खिलाफत आंदोलन की भी भूमिका है, राष्ट्रवाद की यह भावना, प्रतिरोध की नई टेकनीक बनकर आता है और अंग्रेजी राज के खिलाफ कारगर साबित होता है।

राष्ट्रवाद को लेकर डॉ अंबेडकर का अपना एक निश्चित मत था, वे कहते है, ''राष्ट्रवाद तभी औचित्य ग्रहण कर सकता है, जब लोगों के बीच जाति, नस्ल या रंग के अंतर को भुलाकर उनमें सामाजिक बंधुत्व को सर्वोच्च स्थान दिया जाए,'' गॉधी जी के राष्ट्रवाद से डॉ0 अंबेडकर की सहमति नहीं बन पाई थी, बावजूद इस असहमति के उस समय की तथाकथित अछूत जातियों का एक बड़ा हिस्सा गॉधी जी के नेतृत्व में आंदोलनरत था, पंरतु क्या यहॉ भी अंततः डॉ अंबेडकर ही सही साबित नहीं होते है? स्वराज–प्राप्ति के 'स्वर्णिम' पचास साल बीत जाने के बावजूद भारत के लगभग 30 करोड़ लोग भुखमरी झेल रहे है इन 30 करोड़ जीवित कंकालों में सवर्ण व्यक्ति शायद ही कोई हो, क्या यही है गॉधी जी का रामराज्य, जो कि ब्रिटिश शासन के विरूद्ध एक यूरोपिया की तरह काम कर रहा था?

इसके लिये जरूरी थी, राष्ट्रीयता की भावना, राष्ट्रवाद से पहले या उसके साथ–साथ राष्ट्रीयता की भावना को भी उत्पन्न किया जाना चाहिए था, यह बिल्कुल उसी तरह है कि औपनिवेशित भारत ने औद्योगिक क्रांति के दर्शन पहले किए होते तो शायद उसकी वर्तमान दुर्दशा देखने को नहीं मिलती, डॉ अम्बेडकर ने राष्ट्रीयता भावना को महत्वपूर्ण बताते हुये लिखा है ''मनुष्यता के इतिहास में राष्ट्रयता एक बहुत बड़ी ताकत है, यह एक होने की भावना है, यह किसी वर्ग विशेष की भावना से संबंधित नहीं होती,'' किताब इसी तथ्य को पुष्ट करती है।

प्रतिरोध के इन तमाम तरीकों से ब्रिटिश शासन अपनी तरह से लड़ रहा था ब्रिटिश राज ने अनेक मानद उपाधियॉ अपने वफ़ादारों को बॉटी थी, कहा जाता है कि शुरूआती दौर में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी अंग्रेजी राज के लिए एक तरह का सुरक्षा कवच ही था, ब्रिटिश राज ने अपनी सेना को वफ़ादार रखने के भी कुछ कायदे बनाये थे, ब्रिटिश फौज के सिपाही के रूप में सूबेदार सीताराम पांडे वफादारी के नाम पर अपने ही बेटे को अंग्रेज सैनिकों द्वारा गोली मारते देखकर भी चुप रह गया था, उसके बेटे ने 1857 की क्रांति में बागियों का साथ दिया था, इसी सूबेदार सीताराम ने 1861 में अपनी कथा अवधी भाषा में लिखी, जिसका अनुवाद उसके सैनिक अधिकारी जैम्स नारगेट ने अंग्रेजी में किया, 1910 में इस पुस्तक को ब्रिटिश भातरीय सेना में भर्ती होने वाले सभी सिपाहियों के लिये अनिवार्य पाठ्य पुस्तक घोषित कर दिया गया, यह किताब

अंग्रेजों की वफ़ादारी और महानता का बयान है, ब्रिटिश शासन द्वारा वर्चस्व स्थापित करने का यह अपना नया ढंग था।

किताब के चौथे अध्याय में आजाद भारत के वर्चस्व और प्रतिरोध की द्वंद्वकथा है, अब तक ब्रिटिश राज शोषक और वर्चस्वी की भूमिका में था परन्तु स्वराज प्राप्ति के बाद भूमिकाओ में परिवर्तन आ गया, कल तक के औपनिवेशित भारत के दास राज्य संचालक की स्थिति में आ गए, इन नए राज्य संचालकों ने अपने वर्चस्व को बनाने और बनाए रखने के लिये अपने तरीकों काइस्तेमाल शुरू कर दिया, भाषा, लिंग, जाति, धर्म और क्षेत्र के आधार पर उठने वाले प्रश्नों से जूझती यह व्यवस्था वर्चस्व के लिए उन्हीं हथकंडों का इस्तेमाल करने लगी जो पहले ही राज्य सत्ताएं करती रही थी, इसलिये ग्राम्षी का मानना है कि ''शासक व शासित वर्ग के बीच संस्कृति के स्तर पर वर्चस्व का खेल चलता रहता है, सत्ता के लिये विभिन्न राजनीतिक दलों एवं संगठनों में लगातार बनते–बिगड़ते समीकरणों को समाजिक–सांस्कृतिक स्तर पर लगातार गतिमान प्रभुत्व–प्रतिरोध के इस द्वंद्वात्मक अंतरसंबध के बाहरी परिणामों के रूप में देखा जा सकता है।''

स्वतंत्र भारत में राजनीतिक स्तर पर 1975 तक कांग्रेस ही एकमात्र दल दिखाई देता है, परन्तु 1977 में पहली बार जनता पार्टी के हार्थो वह शिकस्त खाती है, साथ ही विभिन्न राज्यों में नक्सलवादी आंदोलन की शुरूआत भी हो जाती है, वर्चस्व और प्रतिरोध के नए रूप या संस्करण हमारे सामने आने लगते है।

वर्चस्व और प्रतिरोध के अन्य आयामों पर अनिवेद लिखते है, ''खासकर 1977 के पश्चात् दलित–जनजातिय विशाल जनसमूह ने 'वोट बैक' के रूप में किसी एक पार्टी या गंठबधन से अपना रिश्ता तोड़ लिया, इस वर्ग की निष्ठा में लगातार बदलाव के कारण राज्य का वर्चस्व नाजुक बन गया है, इस स्थिति में राजनीतिक अस्थिरता पैदा होती रही है, नतीजा है 1990 के दशक से आज तक एक के बाद एक खंडित जनादेश यानी किसी भी एक दल को केद्र में पूर्ण बहुमत हासिल नहीं हो पाया है, जिसे आजकल की राजनीति की भाषा में 'गठबंधन' का युग' कहा जा रहा है।''

आज के राजनीतिक समय में इसीलिए छोटी–छोटी क्षेत्रीय पार्टियॉ भी महत्वपूर्ण और प्रभावशाली बन गई है, वर्चस्व और प्रतिरोध का यह नवीनतम मुहावरा है।

क्या आधुनिक भारत की कथा के द्वंद्व को लेखक ने पकड़ लिया है? उत्तर सकारात्मक है, लेखक के शब्दों में ही कहा जाये तो यह द्वंद्व यह है कि, ''औपनिवेशिक युग में औपनिवेशिक राज्य ने भारतीय समाज तथा संस्कृति का आधुनिकीकरण यानी समाज का मौलिक रूपांतरण न करके सिर्फ कर्मोपयोगी रूपांतरण किया, वही नीति उत्तर औपनिवेषिक, राष्ट्र राज्य ने भी कायम रखी, हमारी समकालीन सोच, सभ्यता, संस्कृति एवं समाज में व्याप्त अंतरविरोधों, विरोधाभासों तथा विडंबनाओं का यही मूल कारण है जिसके मर्म को डॉ अंबेडकर ने 1949 में ही पहचान किया था, हमारी सामाजिक–सांस्कृतिक संरचना अभी भी अर्धसामंती–अर्ध–आधुनिक है।'' हमें याद रखना चाहिए कि 25 नवंबर 1949 को संविधान सभा मे डॉ अम्बेडकर ने अपने ऐतिहासिक भाषण में इन हालातों का खुलासा कर दिया था। ''राजनीति की दुनिया में हम एक व्यक्ति, एक वोट और एक वोट, एक मूल्य के उसूल को अपनाने जा रहे है लेकिन, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में हम अपने आर्थिक और सामाजिक ढांचे के कारण एक वोट, एक मूल्य को उसूल को नकारते ही रहेगें, अंतरविरोधों की इस दुनिया में हम आखिर कब तक जिएंगें ?

परख

यह दोबारा बल देकर कहा जाना चाहिए कि जब तक भारत की सामजिक–सांस्कृतिक संरचना अर्द्धसामंती ओर अर्द्ध आधुनिक रहेगी, तब तक भारत में एक वोट, एक मूल्य स्थापित नहीं हो सकेगा, यह भी कहा जाना चाहिए कि आधुनिक भारत के तमाम विरोधाभासों ओर अंतर्द्धद्धों का कारण यही है, साथ ही क्या यहां यह कहना उचित नहीं होगा कि लेखक को छठवें गुरू के रूप में डॉ बी0 आर0 अम्बेडकर को भी याद करना चाहिए था? आखिरकार उन्हीं के बताए मार्ग पर ही इस द्वंद्वकथा का अंत संभव हुआ है।

शिव नारायण सिंह अनिंवेद की यह किताब अपनी विश्लेषणात्मक शैली और गंभीर तथा व्यापक अध्ययन–सामग्री के कारण ही महत्वपूर्ण नहीं बनती है, बल्कि इसलिये भी बनती है कि वह समस्याओं के वास्तविक कारण और निराकरण भी सुझाती है, यह पुस्तक अकादमिक ईमानदारी और पुरानी अवधारणाओं की अपनी 'नव–व्याख्याओं' के लिऐ भी जानी जाएगी,

अंग्रेजी से हिंदी में सरल और सहज अनुवाद के लिये प्रो0 निर्मला जैन भी बधाई की पात्र है, पारिभाषिक शब्दावलियों के अनुवाद अक्सर इतने सहज नहीं हो पाते है, जितने इस किताब में संभव ही पाए हैं।

यह किताब अनेक अनुशासनों के विद्यार्थियों के लिए एक अनिवार्य हैंड बुक की तरह उपयोगी साबित होगी, कहना चाहिए कि यह पुस्तक आधुनिक भारत के द्वंद्व की निर्द्वद्व कथा है।

पुस्तक : आधुनिक भारत की द्वंद्व कथा
लेखक : शिव नारायण सिंह अनिवेद
अनुवाद : डॉ0 निर्मला जैन
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन,
21, अंसारी रोड, दरियागंज–2
मूल्य : 175 रूपये